MAPA- 602

विकास प्रशासन (भाग- 2)

DEVELOPMENT ADMINISTRATION
(Part- 2)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139
फोन नं0- 05946- 261122, 261123
टॉल फ्री नं0- 18001804025
ई-मेल- info@uou.ac.in
वैबसाईट- http://uou.ac.in

अध्ययन मंडल

प्रो0 गिरिजा प्रसाद पाण्डे निदेशक- समाज विज्ञान विद्याशाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	प्रो0 अजय सिंह रावत उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
प्रो0 एम0 एम0 सेमवाल, राजनीति विज्ञान विभाग केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गढवाल, उत्तराखण्ड	प्रो0 मधुरेन्द्र कुमार (विशेष आमंत्रित सदस्य) राजनीति विज्ञान विभाग कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखण्ड
डॉ0 ए0के0 रुस्तगी, रीडर, राजनीति विज्ञान जे0एस0पी0जी0 कॉलेज, अमरोहा, उत्तर प्रदेश	डॉ0 सूर्य भान सिंह, असिस्टेन्ट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ0 घनश्याम जोशी (असिस्टेन्ट प्रोफेसर), उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	

पाठ्यक्रम संकलन और सम्पादन

डॉ0 घनश्याम जोशी (असिस्टेन्ट प्रोफेसर)
लोक प्रशासन विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड

इकाई लेखक	**इकाई संख्या**
डॉ0 जाकिर हुसैन, सेवानिवृत प्रोफेसर सहसवानी टोला, ओल्ड सीटी, बरेली, उत्तर प्रदेश	1, 2, 3
डॉ0 घनश्याम जोशी**,** लोक प्रशासन विभाग लोक प्रशासन विभाग**,** यू0 ओ0 यू0**,** हल्द्वानी	4, 5, 6, 7, 8
डॉ0 सत्य नंदन भगत, राजनीतिविज्ञान विभाग राजकीय महाविद्यालय, कोटाबाग, उत्तराखण्ड	9, 10, 11, 12

प्रकाशन वर्ष- 2022

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण- 2022

प्रकाशक निदेशालय- उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।
प्रकाशन से पूर्व की प्रति।

अनुक्रम

खण्ड- 1 अधिकारी तंत्र(नौकरशाही) और विकास- भाग- 2	
1. भारतीय अधिकारी तन्त्र (नौकरशाही) की सामाजिक पृष्ठभूमि	1 – 13
2. तटस्थ बनाम प्रतिबद्ध अधिकारी तन्त्र (नौकरशाही)	14 – 26
3. सरकारी अधिकारियों और राजनेताओं के बीच संबंध	27 – 39
4. अधिकारी तन्त्र (नौकरशाही) की क्षमता में वृद्धि करना	40 – 52
खण्ड- 2 विकेन्द्रीकरण और विकास	
5. लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा	53 – 60
6. पंचायती राज का उद्भव और भूमिका, उभरते प्रतिमान	61 – 71
7. पंचायती राज का भविष्य एवं समस्याएं	72 – 79
8. स्वैच्छिक अभिकरणों की भूमिका	80 – 89
9. सहकारिता एवं विकास	90 – 100
खण्ड- 3 सार्वजनिक क्षेत्र और विकास	
10. सार्वजनिक/सहकारी क्षेत्र और विकास	101 – 111
11. सार्वजनिक उद्यम के स्वास्थ्य	112 – 124
12. विकास निगमों की भूमिका	125 – 131
13. सार्वजनिक क्षेत्र की प्रशासनिक समस्याएं	132 – 141

इकाई- 1 भारतीय अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) की सामाजिक पृष्ठभूमि

इकाई की संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 समाज की अवधारणा
1.3 भारतीय समाज: प्रकृति
    1.3.1 समाज का बहुलवादी स्वरुप
    1.3.2 विभिन्नता में एकता
1.4 भारतीय समाज के नकारात्मक पहलू
1.5 अधिकारीतंत्र (नौकरशाही): अर्थ और प्रकृति
1.6 भारतीय अधिकारीतंत्र: ब्रिटिश काल
    1.6.1 आरम्भ काल (1600-1858)
    1.6.2 सुधार काल (1858-1947)
1.7 अधिकारीतंत्र: भारतीय संदर्भ
1.8 भारतीय नौकरशाही का विकृत स्वरुप और उपचार
1.9 भारतीय अधिकारतंत्र की चुनौतियाँ
1.10 सारांश
1.11 शब्दावली
1.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
1.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

यदि भारतीय अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) को सामाजिक पृष्ठभूमि में देखा जाये तो ऐसे अनेक तथ्य सामने आयेंगे जिन्होंने भारतीय अधिकारीतंत्र के वर्तमान स्वरुप को ढालने में अहम भूमिका अदा की है। भारत में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना, मुगल सल्तनत के पतन, और कम्पनी द्वारा राजनीतिक सत्ता ग्रहण करने के साथ ही अधिकारीतंत्र की नीवं पड़ी जो अपने स्वरुप, अपने उद्देश्य, तथा अपनी कार्यशैली में पूर्णतयाः सामन्ती, पूंजीवादी और वाणिज्यिक थी तथा जिसकी मानसिकता रंगभेदी थी। 1857 का विद्रोह इस मानसिकता का एक भयानक नतीजा था।

1858 से 1947 तक भारत में नौकरशाही पूरी तरह अपनी औपनिवेशिक विरासत और पाश्चात्य संस्कृति के अतिरिक्त भारतीय समाज के परिवेश के साथ छा चुकी थी। इस दौर में वह सुधारों की अनेक श्रेणियों की श्रंखला से होकर गुजरी, यहाँ तक कि 1935 के भारत अधिनियम ने उसको वह परिपक्कव स्वरुप दिया जो आज तक बना हुआ है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ब्रिटिश लोक सेवा (आई0सी0एस0) की परिधि से निकलकर भारतीय लोक सेवा (आई0ए0एस0 तथा आई0पी0एस0) में प्रवेश कर गई। आज अपने वर्तमान स्वरुप में यह भारत की चुनौतीपूर्ण

सामाजिक परिस्थितियों का सामना करते हुए विकास की ओर अग्रसर है। इसमें विरासत का रंग भी है और भारतीय समाज की छाया भी।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय अधिकारतंत्र को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देख सकेंगे।
- ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में नौकरशाही की मानसिकता, और कार्यशैली क्या थी, यह समझ पायेंगे।
- 1857 से लेकर 1947 तक भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ क्या थीं और उन परिस्थितियों का सामना करने के लिए भारतीय नौकरशाही किन सुधारों के दौर से गुज़री, यह जान पायेंगे।
- भारत की सामाजिक विशेषताऐं क्या हैं और वे किस तरह भारतीय अधिकारीतंत्र को प्रभावित करती हैं, इसे समझ सकेंगे।
- भारतीय समाज की वर्तमान चुनौतियाँ क्या हैं और संवैधानिक तकाजे क्या हैं और किस तरह भारतीय अधिकारीतंत्र इन चुनौतियों का सामना करते हुए तथा तक़ाज़ों की पूर्ति करते हुए आगे बढ़ रहा है, यह जान पायेंगे।

1.2 समाज की अवधारणा

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ ही वास्तव में भारत में अधिकारीतंत्र या लोक सेवा का इतिहास आरम्भ होता है। संस्थाऐं जो भी हों वे अपने सामाजिक परिवेश से प्रभावित होती हैं। समाज स्थिर नहीं होता है। गतिशीलता, परिवर्तनशीलता तथा निरन्तरता उसकी विशेषताएँ हैं। वह अनेक चरणों से गुजरकर विकसित होता है। भारत में अखिल भारतीय सेवाओं के इतिहास को ऐसे तीन चरणों में विभक्त किया गया है- (1853 से 1919), (1919 से 1947) तथा (1919 के पश्चात)। इन तीनों चरणों में समाज का स्वरुप बदला है और इस परिवर्तन के साथ अधिकारीतंत्र भी बदला है। लेकिन अधिकारीतंत्र और उसके सामाजिक परिवेश को जानने से पूर्व समाज और उसके निर्माणिक तत्वों को जानना जरुरी है।

लोक-प्रशासन के आधुनिक विचारकों का यह मत है कि यदि किसी देश की प्रशासनिक व्यवस्था को जानना है तो उसके सामाजिक परिवेश का अध्ययन करना जरुरी है। 'परिवेश एक व्यापक अर्थ वाला शब्द है, जिसमें भौतिक तथा परा-भौतिक (विचारात्मक) सभी तत्व सम्मिलित होते हैं। अतः समाज इस पूरे परिवेश से प्रभावित होता है तथा बदले में सभी संस्थाओं को प्रभावित करता है।

पर्यावरणीय या परिस्थितिकीय परिवेश का विचार सब से पहले सन् 1961 में एफ0डी0 रिंग्स ने अपनी प्रसिद्ध रचना ''The Ecology of Public Administration'' में रखा। उसके सिद्धान्त ने प्रशासन और पर्यावरण के परस्पर सम्बन्धों के मध्य सार्थकता के बारे में धूम मचा दी।

पर्यावरण में संस्थान, इतिहास, आचारशास्त्र, राजनीति, संस्कृतिक, आर्थिक व्यवस्था, धर्म, दर्शन, परम्पराएं और विचारधाराऐं सभी आती हैं। कुछ विचारकों ने इन सब बातों के समुच्य या एकीकरण को 'संस्कृति' कहा है और दूसरों ने इसे 'समाज' की संज्ञा दी है। रिग्स इस समुच्य को पर्यावरण (Ecology) कहता है।

1.3 भारतीय समाज: प्रकृति

जितनी प्राचीन भारतीय सभ्यता है, उतनी प्राचीन भारतीय संस्कृति और उतना पुराना उसका समाज है। भले ही यह समाज अपनी अविकसित अवस्था में हो। चन्द शब्दों में यह कहा जा सकता है कि परा-ऐतिहासिक युग (Pre-

historic) के समय से भारत बहु-जातीय अथवा बहु-वर्णीय लोगों का देश रहा है। अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज उतना प्राचीन है जितनी पुरानी भारतीय सभ्यता तथा भारतीय प्रशसन भी उतना ही पुराना है जितना पुराना भारतीय समाज। इस तरह भारतीय प्रशासन सभ्यता, संस्कृति और समाज के अन्तः सम्बन्धों का नतीजा है।

भारतीय समाज प्राचीनकाल में ऋग्वैदिक काल, उत्तर वैदिक काल, महाकाव्य काल और मौर्य काल से होकर राजपूत काल तक आकर रुकता है।

राजपूत काल के बाद 1206 से मुस्लिम सल्तनत काल आरम्भ होता है जिसका अन्त 1526 में होता है।

सल्तनत काल के पतन के साथ मुगल काल आरम्भ होता है जो 1858 तक चलता है।

इस तरह हिन्दु राज्य-व्यवस्था अपने प्रारम्भिक काल से लेकर 100ई0 तक माना जाता है।

सारांश यह है कि 100ई0 से लेकर सन् 1858 तक जो राजनीतिक व्यवस्था रही उसके अनुसार समाज का निर्माण हुआ तथा इस राजनीतिक व्यवस्था ओर सामाजिक संरचना के अनुसार जो पर्यावरण तैयार हुआ उसने भारतीय प्रशासन का स्वरुप और प्रकृति तैयार की। इसमें राजनीति, धर्म, परम्परायें, विचारधाराऐं, आर्थिक व्यवस्था, नैतिक मूल्य और शासकों का आचरण सभी का अपना-अपना योगदान है। इस समय की सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं ने और उनकी आवश्यकताओं ने भारतीय प्रशासन की प्रकृति निश्चित की।

1.3.1 समाज का बहुलवादी स्वरुप

भारत एक बहु-सांस्कृतिक (Multi Cultural) और बहु-सामाजिक (Multi Social) देश है। विविधता इसकी पहचान है। बहुलवाद (Pluralism) इसकी विशेषता है। अनेकता में एकता इसका चरित्र है। भारत की संस्कृति में गतिशीलता (Dynamism) है। यह विकास का नतीजा है, जो सदियों की देन है।

भारतीय बहुलवाद का इतिहास भारत में बसने वाले प्रजातीय वर्गों से आरम्भ होता है- इण्डो-आर्यन-द्राविणीय, मंगोलीय, आर्य-द्राविण, मंगोलाई-द्राविण, साइको-द्राविण, तुर्को-इरानी इत्यादि प्रजातीयों ने भारतीय बहुलवाद की नींव डाली है। भारतीय समाज की एक सांस्कृतिक संरचना गठित हुई जिसमें परम्पराओं, रुढ़ियों, विचारों और संस्थाओं का योगदान रहा है। मानव आचरण की एक पद्धति भी तक संस्कृति का निर्माण करती है। संस्कृति मानव अनुभव से निर्मित होती है। टेलर के अनुसार: ''संस्कृति ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि, रिवाज और लोगों की क्षमताओं, आदतों और व्यवहारों का एक जटिल समुच्य है। भारतीय संस्कृति में यह सभी विशेषताऐं विद्यमान हैं।

भारतीय संस्कृति का इतिहास हज़ारों वर्ष पुराना है। भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व भारतीय संस्कृति विकसित हो चुकी थी। द्राविण भारत के मूल निवासी थे। उनकी संस्कृति और सभ्यता दूर-दूर तक फैली हुई थी। हड़प्पा और मोहनजोदाड़ो द्राविण सभ्यता के उद्गम थे। आर्यों के आगमन और द्राविणों के साथ उनके अन्तः सम्बन्धों से संस्कृति का एक दूसरा दौर शुरु हुआ। दोनों ने एक दूसरे की संस्कृतियों को प्रभावित किया। इस तरह दोनों संस्कृतियों क मेल से भारत के एक नया समाज अस्तित्व में आया। इस नये समाज की रचना के साथ नये विचार, नई आस्थाऐं और नये विश्वास भी पनपे जिन्होंने मिलकर भारतीय धर्म का निर्माण किया।

1.3.2 विभिन्नता में एकता

भारतीय समाज और संस्कृति के घटक या संयोजन विभिन्नता के प्रतीक है। उनके स्रोत भी अनेक हैं। लेकिन विभिन्न सांस्कृतिक घटकों के आपस में घुलने-मिलने के कारण एकीकरण का एक समुच्य बन गया है। इस प्रक्रिया को पूरा होने में सदियाँ गुज़री हैं। सर हर्बट डिस्ले के अनुसार, ''भाषाओं, परम्पराओं और धर्मों की भौतिक और सामाजिक अनेक विभिन्नताओं की सतह के नीचे, जो भारत में देखने को मिलती है, हिमालय से लेकर

कैपकमोरिन तक जीवन की उस समानुरुपता के भी दर्शन होते हैं, जो वास्तव में भारतीय चरित्र है, जो सामान्यतया भारतीय व्यक्तित्व है, जिस पहचान को मिटाया नहीं जा सकता।'' सार यह है कि विभिन्न भाषाओं, धर्मों, पथों, विश्वासों, रस्मों, रिवाजों, शारीरिक बनावटों, विभिन्न व्यवहारों, नजरियों, विचार धाराओं और क्षेत्रीय एवं भौगोलिक विभिन्नताओं ने भारतीय संस्कृति और समाज को समाविष्टवादी (Inclusive) बना दिया है।

1.4 भारतीय समाज के नकारात्मक पहलू

भारतीय समाज और संस्कृति की धार्मिक, आध्यात्मिक, कलात्मक, दार्शनिक प्रवृत्ति या चरित्र, उसका बहुलवादी और बहुआयामी स्वरुप और कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक फैली हुई उसकी विविधता में एकता, ये सब वे सकारात्मक पहलू हैं जो भारतीय समाज का निर्माण करते हैं।

लेकिन समाज की इस सकारात्मकता के साथ-साथ वे नकारात्मक पहलू भी हैं जो भारतीय सामाजिक व्यवस्था के साम्य (संतुलन) को बिगाड़ते भी रहते हैं। इन नकारात्मकताओं का प्रभाव सब से अधिक भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था पर पड़ता जिसके कारण देश का विकास रुकता है। समाज के सामने प्रमुख चुनौतियाँ इस प्रकार हैं-

1. **जातिवाद तथा वर्ण व्यवस्था-** प्रत्येक समाज में सामाजिक नियंत्रण एवं व्यक्तिक-स्तर के निश्चियीकरण के लिए अनेक प्रबन्धन (Provisions) तथा नियम होते हैं। भारत में ऐसे प्रबन्धनों का नाम जाति-प्रथा है। इस व्यवस्थ ने सामाजिक संरचना पर गहरा प्रभाव डाला है। जातिवादी समाज में सामाजिक या राष्ट्रीय भावना की अपेक्षा जाति भावना प्रबल होती है। अर्थात अर्थात 'राष्ट्र और समाज के प्रति वफादारी कम और अपनी जाति के प्रति वफादारी अधिक-का सिद्धान्त प्रबल होता है। जाति प्रथा का वास्तविक स्रोत वर्ण-व्यवस्था है, जिसका उद्भव ऋग्वेद और मनुस्मृति से हुआ है। ब्राह्मण को ब्रह्मा का मुख मानना, क्षत्रीय को उसकी बाहें, वेश्य को उदर और शूद्र को पैर मानना समाज को शारीरिक और मानसिक तौर पर विघटित करतीं है।
2. **रुढ़ीवाद या परम्परावाद-** यह आधुनिकता और विकास के लिए एक ऐसा अभिशाप है जिससे छुटकारा पाना एक जटिल समस्या है। क्योंकि अधिकांश भारतीय जीवन ग्रामीणीय है जहाँ के अधिकांश लोग विशेष रुप से महिलाऐं अशिक्षित हैं, इसीलिए यहाँ रुढ़ीवाद की जड़े गहरी हैं। यह स्थिति समाज के लिए एक बड़ी चुनौती है।
3. **ग्रामीणीय एवं नगरीय अन्तर-** भारतीय समाज के सत्तर प्रतिशत् आबादी गाँवों में रहती है जो आधुनिकता के प्रत्येक क्षेत्र में पिछड़ी हुई है। इसके विपरीत नगरीय भारत का बड़ा भाग आधुनिकता और विकास के सुख भोगता है। इस अन्तर ने दोनों क्षेत्रों के लोगों की सोच या मानसिकता में भी अन्तर पैदा किया है जो सामाजिक द्वन्द का कारण है।
4. **धर्मान्धता-** यह स्थिति भारत के लिए सबसे अधिक घातक है। यह जुनून और पागलपन को जन्म देती है। यह आध्यात्मिकता नहीं है, यह कोरी पाखण्डता है। यह हिंसा, घृणा, द्वेष और द्वन्द का स्रोत है। 'मेरा धर्म, मेरे विश्वास, मेरी संस्कृति मात्र यही सर्वोत्तम है-यह सोच समाज में केवल टकराव पैदा करती है। यह एकता और समरसता को खण्डित करती है।
5. **चरमपंथी विचारधारा-** चरमपंथी आधुनिकता, सुधारवाद, परिवर्तन और प्रगति का कट्टरता से विरोध करते हैं। यह अपनी विचारधारा हिंसात्मक तरीके से दूसरों पर लादने का प्रयास करते हैं। इनके नजरिए, आचरण और कार्यपद्धति चरम सीमाओं तक पहुँचती है, जो देश के लिए घातक है।
6. **साम्प्रदायिकता-** अपने विशेष सन्दर्भ में साम्प्रदायिकता का अर्थ है हिन्दु-मुस्लिम सम्प्रदायों में टकराव। यह टकराव नज़रियों का भी होता है और अक्सर इस की अभिव्यक्ति हिंसात्मक टकराव के रुप में होती है। इसके अनेक कारण हैं-ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक और विचारात्मक सभी का योगदान रहता

है। साम्प्रदायिकता समाज को झकोर कर रख देती है, राजनीतिक व्यवस्था के संतुलन को बिगाड़ती है और आर्थिक गतिविधियों में बाधा डालती है। और सब से अधिक यह देश की एकता और अखण्डता के लिए खतरा बनती है।

7. **आर्थिक विषमता-** भारतीय समाज में आर्थिक विषमता द्वन्द का एक बड़ा कारण है। देश के धन का सत्तर प्रतिशत भाग चन्द कुबेर घरानों के पास है। सब से बुरी स्थिति किसान और मज़दूर की है। इस विषमता का प्रभाव शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी देखने को मिलता है।
8. **भ्रष्टाचार-** भारतीय समाज के संदर्भ में इस विषय पर जितना भी लिखा जाये वह कम है। ऊपर से नीचे तक समाज भ्रष्टाचार के रोग से जकड़ा हुआ है। आये दिन के घोटाले इस बीमारी के प्रतीक हैं। विश्व के सबसे भ्रष्ट देशों में भारत का नाम भी है।
9. **राजनीतिक प्रपंच-** सत्ता प्राप्ति के होड़ में राजनीतिक प्रपंच का खुलकर प्रयोग होना लगभग सभी सामाजिक बुराईयों का कारण है। साम्प्रदायिकता, प्रचण्ड राष्ट्रवाद, धर्मान्धता, हिंसा, और उग्रता-यह सब भारतीय राजनीति की देन है।
10. **मूल्यों में गिरावट-** यह वह सामाजिक बुराई है जो भ्रष्टाचार, हिंसा, राजनीतिक पाखण्ड, आर्थिक विषमता और असहिष्णुता का बढ़ावा देती है। भारतीय समाज इस गिरावट से पूरी तरह ग्रस्त है। मूल्य ही चरित्र का निर्माण करते हैं और लोगों का चरित्र समाज का स्वरूप तैयार करता है।

1.5 अधिकारीतंत्र (नौकरशाही): अर्थ और प्रकृति

भारतीय संदर्भ में समाज और संस्कृति को समझने के बाद प्रशासनिक दृष्टि से अधिकारीतंत्र या नौकरशाही को समझना जरुरी है, क्योंकि अधिकारीतंत्र आधुनिक समाज का एक निर्णायक घटक हैं।

एन्थॉनी डाउन्स ने अपने प्रसिद्ध शोध-प्रबन्ध 'इनसाइड ब्योरियोक्रेसी (Inside Bureaucracy) में नौकरशाही का सकारात्मक नज़रिये से विश्लेषण किया है। क्योंकि शब्द नौकरशाही को व्यंग, उपहास और घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा है, इसलिए डाउन्स ने (1964) नौकरशाही (Bureaucracy) के स्थान पर 'अधिकारी' (officials) शब्द का प्रयोग करना उचित समझा। प्रशासन की दृष्टि से उसकी विषय वस्तु 'ब्योरोज' (Bureaus) है जिसका अर्थ है विभाग या कार्यालय और उसमें निर्णायक भूमिका अदा करने वाले लोग अधिकारी होते हैं। इस व्यवस्था को अधिकारीतंत्र कहा जा सकता है।

डाउन्स के विश्लेषण के अनुसार अधिकारीतंत्र में अधिकारियों के अनेक सकारात्मक कार्य हैं जैसे तार्किक तरीक़े से काम करना, कम से कम लागत और समय में अधिकतम उपलब्धि प्राप्त करना, ब्योरोज और समाज के लिए काम करना, राष्ट्र, समाज, सरकार और व्यवस्था के प्रति वफादार रहना इत्यादि। लेकिन कुछ अधिकारियों के नकारात्मक कार्य भी होते हैं जैसे विशुद्ध आत्म हितकारी काम करना, अपनी शक्ति, आय और प्रतिष्ठता को दिन रात बढ़ाये रखने का प्रयास करना, अपनी सुरक्षा और सुविधा को बढ़ाने का तरीका खोजना, यथास्थिति को बनाये रखना, नवीनीकरण का विरोध करना इत्यादि। कुछ ऐसे अधिकारी हैं जो आत्म-हितों को जनहितों से मिला लेते हैं। यह चालाक होते हैं और राजनीतिज्ञों, कुलीनों, पूंजीपतियों के साथ-साथ समाज के प्रति भी वफ़ादार होते हैं। डाउन्स के अनुसार 'शक्ति प्राप्त करना, प्रभावित करना और अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना' इनका विशेष लक्ष्य होता है। यहाँ सब से अहम बात यह है कि ब्योरोज, के अधिकारी निर्णय-निर्माण का आधार होते हैं।

1.6 भारतीय अधिकारीतंत्र: ब्रिटिश काल

समाज और अधिकारीतंत्र को समझने के बाद ब्रिटिश सामाजिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में भारत में विकसित अधिकारीतंत्र के स्वरुप, उसकी मनःस्थिति और उसकी कार्यशैली को समझना जरुरी है।

एक पुरानी कहावत है 'यथः राजा तथः प्रजा'। यह कहावत राजतंत्र में चरिथार्त थी। लोकतंत्र का सच यह है कि 'यथः प्रजा तथः राजा'। यहाँ राजा से अर्थ शासन और प्रशासन से है। प्रशासन की बागडोर नौकरशाहों के हाथ में होती है। अतः यह वैसा ही प्रशासन चलाते हैं जैसा इनके समाज ने इनको ढाला है।

भारत में अधिकारीतंत्र को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष में तीन चरणों में बाँटा जा सकता है। यह तीन चरण हैं- सन् 1600 से 1858 तक, सन् 1858 से 1947 तक तथा सन् 1947 से अब तक।

यहाँ हम केवल उन दो चरणों की (1600-1858) तथा (1858-1947) की समीक्षा करेंगे जिनका सम्बन्ध भारत में ब्रिटिश काल से है, जिसमें अधिकारीतंत्र ने जन्म लिया तथा जहाँ इसका सुधार और विकास हुआ।

1.6.1 आरम्भ काल (1600-1858)

आरम्भ काल से यहाँ अर्थ है भारत में उस औपनिवेशिक काल का जिसमें मुगल सल्तनत के पतन के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन स्थापित हुआ और उसके गर्भ में अधिकारीतंत्र ने जन्म लिया। क्योंकि कम्पनी का उद्देश्य व्यापार करना था इसलिए उस समय के प्रशासनिक अधिकारियों की प्रवृत्ति व्यापारी थी, क्योंकि वे किसी निश्चित प्रशासनिक व्यवस्था का अंग नहीं थे, फिर भी इन्हीं अधिकारियों के बल पर कम्पनी भारत में प्रमुख यूरोपीय शक्ति बन गयीं। यह स्थिति 1773 तक बनी रही। कम्पनी के अधिकारी 'नौकरशाह' नहीं थे, वे मुक्त व्यापारी थे, इसलिए स्वेच्छाचारी थे। वे ''लूट की प्रथा'' का अंग और माध्यम थे। इसलिए कम्पनी की मनमानी को नियंत्रित करने के लिए ब्रिटिश संसद ने भारत में ''दोहरी शासन व्यवस्था को लागू किया। 1773 में रेग्यूलेटिंग एक्ट पास किया गया, जिसे भारत के संवैधानिक इतिहास का पहला मील का पत्थर माना जाता है। इसका उद्देश्य भारतीयों को सुशासन देना था और ''लूट प्रथा'' को समाप्त करना था।

अभी तक प्रशासनिक अधिकारियों की प्रकृति वाणिज्यिक ही थी, जो योग्यता-आधारित प्रशासनिक सेवाओं के विकास में बाधक थी, इसलिए गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्ज तथा लार्ड कार्नवैलिस ने भू-राजस्व की वसूली तथा शान्ति और व्यवस्था के लिए लोक सेवाओं की आधारशिला रखी। 1787 में जिलाधीश, मजिस्ट्रेसी, तथा न्याय प्रशासन की बुनियाद पड़ी। धीरे-धीरे राजस्व, पुलिस, दीवानी और फ़ौजदारी न्याय जैसे विषय लोक सेवाओं के अन्तर्गत आ गये। लार्ड क्लाइव ने अधिकारियों के निजी व्यापार करने, घूस या उपहार लेने पर पाबन्दी लगा दी।

क्लाइव के सुधारों के बाद भी स्थिति गम्भीर बनी रही। इसलिए लार्ड कार्नवैलिस (1785-1793) ने अधिकारियों के व्यापार करने पर पाबन्दी लगाकर बदले में उनका वेतन बढ़ा दिया। वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नति का सिद्धान्त अपनाया गया। इस तरह कुछ हद तक अधिकारियों के स्वहित पर अंकुश लगा।

अभी तक लोक सेवाओं को भारत की सामाजिक परिस्थितियों का ज्ञान नहीं था और वे पूरी तरह यूरोपीय मानसिकता से काम कर रहे थे, इसलिए लार्ड वेलेजली (1798-1805) ने इस तथ्य को भांपते हुए अधिकारियों को भारतीय भाषाओं, परम्पराओं और मूल्यों के अनुरुप कानून और इतिहास की शिक्षा देने के लिए कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। लोक सेवा प्रशिक्षण की यह पहली संस्था बन गई।

भारतीय लोक सेवाओं के इतिहास में 1854 सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। लार्ड मैकाले की सिफारिशों के तहत आई0सी0एस0 के गठन और उसकी कार्यप्रणाली के नियम तैय किये गये जो आज भी भारतीय प्रशासनिक सेवाओं की आधारशिला हैं।

यहाँ 1600 से लेकर 1858 तक भारतीय अधिकारीतंत्र का विश्लेषण किया जाए तो अनेक महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं-

1. भारत में काम करने वाले अधिकारी या नौकरशाह सामन्ती और पूँजीवादी कुलीन घरानों से आये थे, जो ब्रिटेन की सामाजिक विशेषता थी।

2. यह ग्रेट-ब्रिटेन का साम्राज्यवादी काल था जिसमें अंग्रेज स्वयं को स्वामी तथा उपनिवेश के निवासियों को गुलाम मानते थे।
3. अंग्रेज पाश्चात्य संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ मानते थे तथा अपनी राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं और विचारों को आदर्श मानते थे।
4. यह रंग-भेद और नसलवाद में विश्वास रखते थे।
5. इनका विश्वास था कि पूर्व एवं पश्चिम का कभी मेल नहीं हो सकता।
6. यह श्रेष्ठता की मनोग्रंथी (Superiority Complex) से ग्रस्त थे, इसलिए भारतीयों को हीन दृष्टि से देखते थे।
7. भारत में इनके निवास-आवास क्षेत्र भारतीय बसासत से अलग थे अर्थात् यह सिविल लाइन्सों में रहते थे जहाँ भारतीयों के प्रवेश वर्जित थे। यह अपने कल्बों के द्वार पर 'इण्डियन डाग्स आर नाट एलाउड' लिखते थे।
8. इस तरह भारतीयों और अंग्रेजों के मध्य एक गहरी सामाजिक खाई थी, जिसके परिणामस्वरुप 1857 में इनको विद्रोह का सामना करना पड़ा। वास्तविकता यह है कि 1857 की बगावत नौकरशाहों के अहंकारी, अलगावदी और दमनकारी रवय्ये का नतीजा थी।

1.6.2 सुधारकाल (1858-1947)

वास्तव में बगावत से पहले भारत की प्रशासनिक व्यवस्था रेग्यूलेटिंग एक्ट के चारों ओर विकसित हो रही थी। 1858 में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्थान पर ब्रिटिश संसद का शासन स्थापित हो गया। अब भारतीय शासन तीन मुख्य शक्तियों के हाथ में था-भारत सचिव तथा उसकी परिषद, गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद तथा रेसीडेन्ट्स इन शक्तियों का प्रयोग उनके अधिकारी करते थे जो वास्तव में नौकरशाह थे। इस तरह भारत में पूरी तरह अधिकारीतंत्र स्थापित हो गया।

लेकिन सत्ता परिवर्तन के बाद भी शासन (प्रशासन) पूरी तरह केन्द्रीकृत तथा निरकुंश बना रहा। इसलिए 1861 में एक अधिनियम के तहत भारतीय प्रशासन में कई परिवर्तन हुए। प्रान्तीय विधायिकाओं की स्थापना हुई तथा भारत को प्रशासन का ऐसा स्वरुप दिया गया जो ब्रिटिश शासन के अन्त तक चलता रहा। इसके द्वारा प्रशासन में भारतीयों को मौका मिलना आरम्भ हुआ। लेकिन लोक सेवाओं में भारतीयों को अधिक भागीदारी नहीं मिली।

1917 में भारत सचिव मॉण्टेग्यू की घोषणा के बाद प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों की भागीदारी बढ़ने लगी और 1919 तक भारत स्वशासन की ओर बढ़ता नजर आया। 1917 से 1937 तक भारत की प्रशासनिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन आये। द्वैध-शासन की स्थापना हुई, नौकरशाही और लोकतंत्र को मिलाया गया और अधिकारीतंत्र में सामाजिक विषमता को हतोत्साहित किया गया। 1918 में मॉण्टेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट के अनुसार इसमें लोक-सेवा की परीक्षा इंग्लैण्ड और भारत में एक साथ कराने, वरिष्ठ पदों में एक तिहाई पद भारतीयों के लिए सुरक्षित रखने तथा लोक-सेवा आयोग की स्थापना का प्रस्ताव किया गया। 1926 में लोक सेवा आयोग की स्थापना की गयी।

सुधार काल में लोक सेवाओं का विश्लेषण करने के बाद नौकरशाही के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तत्व सामने आते हैं, वे इस प्रकार हैं-

1. सुधारकाल में यद्यपि कम्पनी का शासन समाप्त हो चुका था लेकिन नई शासन व्यवस्था की बागडोर पूरी तरह अधिकारियों के हाथों में थी जो अंग्रेज थे और उनकी मानसिकता अभी भी सामन्ती, पूँजीवादी, नसलवादी, अलगाववादी, निरंकुश और स्वेच्छाचारी थी।

2. उनकी विशेषता वही थी जिसका वर्णन कार्ल मार्क्स ने किया है-पूंजीपतियों, सामन्तियों और राजनेताओं की यथास्थिति को बनाये रखना, राज्य के दमनकारी स्वरुप में एक उपकरण के रुप में काम करना तथा परजीवी बने रहना।
3. उन का उद्देश्य लगभग वही था जिसकी व्याख्या ऐन्थानी डाउन्स ने की है-स्वहित के लिए काम करना, अपनी प्रतिष्ठा, शक्ति तथा आय को दिन-व-दिन बढ़ाये जाने का प्रयास करना।
4. भारतीय समाज से उनका अभी भी अलगाव था, यद्यपि रेम्जे, एटकिनसन, बैटिन जैसे अधिकारी भी थे (कुमायूँ में) जिन्होंने अपने काय-क्षेत्र को पूरी तरह आत्मसात् कर लिया था। वे यहाँ के समाज और संस्कृति में पूरी तरह घुल मिल गये थे।
5. लेकिन 1857 से लेकर 1947 के काल में भी उनकी मानसिकता वही बनी रही जो शासकों की होती है। बेगार प्रथा के माध्यम से वे निर्धन समाज का शोषण करते थे। वास्तव में भारत में भ्रष्टाचार की नींव उन्हीं ने ही डाली।
6. वे सर्व साधारण जनता से दूरी बनाए रखते थे लेकिन भारतीय सामन्ती तबकों से राजाओं, रजवाड़ों, नवाबों, ज़मीदारों से घुले-मिलें रहते थे और उनके माध्यम से अपनी दमनकारी नीतियों को अन्जाम देते थे।
7. इसी काल में भारतीय भी लोक सेवक बने और वे भी पूरी तरह पाश्चात्य मानसिकता और संस्कृति के शिकार हो गये।

सारांश में ब्रिटिश नौकरशाहों का अन्तिम लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ों को मजबूत करना था। विभाजित करो और शासन करो (कपअपकम मज मउचमतं) उनके प्रशासन का मूलमंत्र था। यह स्थिति 1947 तक बनी रही यहाँ तक कि भावी रणनीति के तहत उन्होंने भारत का भी विभाजन कर दिया।

1.7 अधिकारीतंत्र: भारतीय संदर्भ

अधिकारीतंत्र में सुधारों का ही यह नतीजा था कि लोक सेवाओं के भारतीयकरण की मांग बढ़ गयी, क्योंकि ब्रिटिश अधिकारियों को व्यक्तिगत रुप सेवा की जाने वाली आलोचना, प्रान्तों में भारतीय मंत्रियों के अधीन काम करने की कलंकपूर्ण स्थिति तथा अधिकारियों को असुविधा में डालने वाला 1920 का असहयोग आन्दोलन, प्रथम विश्व युद्ध के कारण मूल्यों में वृद्धि और अधिकारियों के वेतन की अपर्याप्ता आदि कारणों ने यूरोपीय अधिकारियों को बहुत हतोत्साहित किया। नौकरशाही के प्रति उनका आकृषण समाप्त होने लगा। भारतीयकरण एक तरह से अब अपरिहार्य हो गया। लोक सेवा आयोग की स्थापना इसी माँग का परिणाम थी।

1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा लोक सेवाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गय। राज्यों में भी लोक-सेवा आयोग की स्थापना की गयी। इन सेवाओं पर अब नये अधिनियम के तहत गर्वनर जनरल और प्रान्तीय गर्वनरों का नियंत्रण हो गया। इसी तरह जब भारत को स्वतन्त्रता मिली तो लोक-सेवायें बहुत अच्छी स्थिति में थीं। आई0सी0एस0 के स्थान पर आई0ए0एस0 और आई0पी0एस0 की स्थापना की गयी। 1951 में आई0एफ0एस0 अस्तित्व में आई। 1954 में ऐपल्बी ने भारतीय लोक सेवा के बारे में जो सिफारिश की उसके तहत भारतीय लोक प्रशासन की नई दिल्ली में स्थापना की गयी। 1966 में प्रशासनिक सुधार आयोग ने लोक-सेवा में सुधार का रास्ता खोला।

इस तरह अधिकारीतत्र ब्रिटिश सामाजिक परिवेश की परिधि से निकलकर शुद्ध भारतीय समाज के परिवेश में स्वतन्त्रता मिलने के बाद नये आयाम और नये लक्ष्य के साथ उपस्थित हुआ। यह नया सामाजिक परिवेश था-

1. 26 जनवरी, 1950 को संवैधानिक शासन की स्थापना।
2. संघात्मक राज्य-व्यवस्था और संसदात्मक शासन व्यवस्था।

3. मंत्रिमण्डल का सामुहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त।
4. राज्य की नीति के निर्देशक तत्व और उनका अनुपालन।
5. नागरिकों के मौलिक अधिकारों की संवैधानिक गारन्टी।
6. स्वतन्त्रता और समानता के समान अवसर।
7. स्वतन्त्र न्यायपालिका।
8. स्वतन्त्र चुनावों की व्यवस्था।

सारांश यह है कि स्वतन्त्रता के बाद भारत में एक नई राजनीतिक और सामाजिक संस्कृति का विकास आरम्भ हुआ जिसके अनुसार नौकरशाही को स्वंय ढालना था। लेकिन समस्या यह थी कि भारतीय अधिकारीतंत्र को अपनी ब्रिटिश विरासत से विमुख होकर नई परिस्थितियों के अनुसार स्वंय को समायोजित करना चुनौतीपूर्ण था।

1.8 भारतीय नौकरशाही का विकृत स्वरुप और उपचार

1950 से 1970 तक का काल लोक सेवा की दृष्टि से सुधार और विकास, प्रयोग और परीक्षण का काल माना जा सकता है। स्वतन्त्रता मिलने के साथ अंग्रेज अधिकारी तो भारत छोड़कर जा चुके थे। लेकिन अब इंग्लिश संस्कृति में रंगे हुए भारतीय अधिकारियों (आई0सी0एस0) की एक बड़ी संख्या के हाथों में नये भारत के प्रशासन की बागडोर थी। इनकी मानसिकता भी लगभग सामन्ती थी। यह भारत का वास्तव में अभिजात् (Elite) वर्ग था जो श्रेष्ठता की मनोग्रन्थि से ग्रस्त था।

वास्तविकता यह थी कि ब्रिटिश काल में जो भारतीय लोक सेवा की (ब्रिटिश) परीक्षाओं में सम्मिलित होते थे वे भी भारत के सामन्ती अभिजात, वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। इंग्लैण्ड में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अवसर उन्हीं को मिलते थे। उनका पूरा व्यक्तित्व (चमड़ी को छोड़कर) अंग्रेजी विचारों, अभिवृत्तियों, सोचने और जीने के अनुभवों यहाँ तक की खान-पान और पहनावों के रंग में रंग जाता था। इसलिए प्रायः वे भी भारत के परमपरावादी समाज से दूरी बनाये रखते थे। अनेक बातों में तो वे ब्रिटिश अधिकारियों से भी अधिक ''अनुदार, अशिष्ट, विभेद-सक्षयी, सनकी, निर्मम और कठोर होते थे।'' यह स्थिति लगभग 1970 तक बनी रही जब भारत में आई0सी0एस0 का संवर्ग (काडर) पूरी तरह विलुप्त हो गया।

1950 में ही ब्रिटिश चयनित एवं प्रशिक्षित अधिकारियों की मनःस्थिति को भांपते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री ने भारत के नव निर्माण के लिए नौकरशाही में सुधार के लिए अनेक प्रभावशाली कदम उठाये। उद्देश्य था नये समाज की माँगों के अनुसार, नई परिस्थितियों के अनुकूल तथा नई चुनौतियों का सामना करने के लिए लोक-सेवकों की मानसिकता, कार्यशैली और कार्यक्षमता में परिवर्तन लाना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1951 में ए0डी0 गोरवाला के नेतृत्व में एक आयोग की स्थापना की गई। गोरवाला ने अपने प्रतिवेदन में लोक प्रशासन की व्यवस्था और नौकरशाही के तत्काल ढांचे में विद्यमान बुराईयों को दूर करने, सेवी वर्ग में निष्ठा पैदा करने तथा समाज के प्रति समर्पित रहने के लिए अनेक सुझाव दिये। लेकिन इन सुझावों पर अमल नहीं किया गया।

इसलिए 1952 में जवाहरलाल नेहरु ने भारत के प्रशासनिक सुधारों पर विचार करने के लिए लोक प्रशासन के प्रसिद्ध चिन्तक पाल0एच0 ऐपल्बी को बाहर से आमंत्रित किया। एलल्बी ने बड़ी बारीकी से भारत की विविधता, बहुल-वादिता, सामाजिक विषमता, आर्थिक जटिलता तथा भारतीय समाज की मानसिकता स्थिति का अध्ययन करके 3000 शब्दों का एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। यह प्रतिवेदन लोक-प्रशासन के सर्वेक्षण पर आधारित था। एपल्बी की सिफारिशों के परिणाम-स्वरुप चार प्रमुख बातें सामने आयीं, जो इस प्रकार हैं-

1. लोक सेवकों को सेवा के दौरान प्रशिक्षण देने के लिए भारतीय लोक प्रशासन संस्थान की स्थापना की गयी।

2. 1954 में ''संगठन और प्रबन्धन'' या ओ0 एण्ड एम0 प्रणाली की स्थापना की गयी। इस व्यवस्था ने शासन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांति लायी।
3. ओ0 एण्ड एम0 को नौकरशाही के भीतर तथा नौकरशाही और जनता के बीच लोकतांत्रिक तरीकों व रीतियों के विकास का उत्तरदायित्व तैय करना, उचित समझा गया।
4. लोक-सेवकों में नेतृत्व ओर कल्पना-शक्ति का विकास होना चाहिए। इस से कार्य-गति भावनात्मक रुप से तीव्र होगी। पदाधिकारियों को अधिक अधिकार दिये जायें ताकि उन्हें स्वविवेक से कार्य करने के अवसर प्राप्त हों।

शासन ने एपल्बी की अधिकांश सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। एक और सामाजिक दैत्य जिसने भारत को जकड़ रखा था और और आज भी जकड़े हुए है, वह था भ्रष्टाचार। इस समस्या के समाधान के लिए 1962 में सन्थानम की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी। 1964 में इस समिति ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जिसका सार था- (1) केन्द्रीय सर्तकता आयोग की स्थापना, (2) स्पष्ट और सरल नियम एवं विधियाँ, (3) सरकारी अधिकारियों के लिए अधिकतम सुविधाएं, (4) योग्यता के आधार पर नियुक्ति एवं प्रोन्नति, (5) फाइलों का निबटारा निश्चित अवधि के अन्दर करना, (6) भ्रष्टाचार के मामलों में कानूनी कार्यवाही शीघ्रतापूर्ण, (7) अधिकारियों की निजी सम्पत्ति की घोषणा, (8) लालफीता शाही को हतोत्साहित करना, (9) अधिकारियों में भय पैदा करना। सारांश यह है कि स्वतन्त्रता के बाद सामाजिक नकारात्मक शक्तियों का प्रभा पूरी तरह अधिकारीतंत्र पर पड़ा जिसके समाधान के लिये सुधारात्मक प्रशासनिक कदम उठाना अनिवर्य हो गया। इन सुधारों में निरन्तरता आज भी बनी हुई है।

1.9 भारतीय अधिकारीतंत्र और चुनौतियाँ

पिछले पन्नों में भारतीय समाज के सकारात्मक और नकरात्मक पहलुओं पर खुल कर प्रकाश डाला चुका है। यहाँ यह देखा जायेगा कि इन दोनों पहलुओं का भारतीय प्रशासन और विशेष रुप से अधिकारियों पर कैसा प्ररभाव पड़ता है ओर वे किस तरह उन प्रभवों से नियंत्रित या मुक्त होते हैं।

आज भारतीय अधिकारी जिस समाज से आते हैं वह न तो सामन्ती है और न पूंजीवादी। स्तर-विन्यास (Strata) के नजरिये से समाज तीन भागों या स्तरों में बटाँ हुआ है-उच्चतर वर्ग, मध्य वर्ग तथा निम्न वर्ग। अधिकारी वर्ग (नौकरशाह) प्रायः उच्चतर वर्ग तथा मध्य वर्ग से आता है। संवैधानिक व्यवस्था के बाद आरक्षण के आधार पर अब निम्न वर्ग (अनुसूचित एवं जनजाति) तथा निम्न-मध्य वर्ग (पिछड़ा वर्ग: ओ0बी0सी0) का प्रतिनिधित्व भी बढ़ा है।

जातीय स्तर पर आज भी सिद्धान्त मनुवादी है। नौकरशाही प्रायः ब्रह्मण, क्षत्रीय तथा वैश्य वर्ग से चयनित होती है। आरक्षण के बाद अनुसूचित-जनजाति को भी अवसर प्रदान हुए हैं। परन्तु आरक्षण की नीति से सामाजिक टकराव बढ़ा है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर समाज के उच्च वर्गों में असंतोष पैदा हुआ है, जिससे प्रशासन में सहयोग, समन्वय और अनुकूलन की समस्या पैदा हुई है।

धार्मिक स्तर पर भी अधिकारीतंत्र प्रभावित हुआ है। भले ही आज के नौकरशाह कितने ही खुले दिमाग के क्यों न हों वे अपने धर्म और आस्थाओं के प्रति पूरी तरह वफादार हैं। उनकी मेजों पर लगे धार्मिक स्टिकरों से यह तथ्य स्पष्ट होता है। साम्प्रदायिकता की हवा उन्हें भी छूती है, आज भी वे रुढ़िवादी और अंधविश्वासी हैं। अक्सर उनके विवेक या औचित्य के फैसले धार्मिक, जातीय और साम्प्रदायिक हितों को नजर में रखकर होते हैं। इस से प्रशासनिक निष्पक्षता, निष्ठा और जनहित का सिद्धान्त टूटता है। यह स्थिति धर्मनिरपेक्षता के भी विरुद्ध है।

क्षेत्रीय स्तर पर स्थिति और भी गंभीर है। समाज के हर तबके की वफादारियाँ अपने क्षेत्र के प्रति अधिक हैं, देश के प्रति कम। यद्यपि सेवी वर्ग को वृहत भारतीय संदर्भ में प्रशिक्षण दिया जाता है, फिर भी उनका रूजहान, विशेष रुप से नीति-निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के समय अपने क्षेत्र विशेष की ओर झुका रहता है।

भ्रष्टाचार समाज का एक और भयावह पहलू है। समाज की इस बीमारी की कहानी ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ''लूट की प्रथा'' डालकर लिखी थे। अंग्रेजी शासन ने भ्रष्टाचार को फलने-फूलने का पूरा मौका दिया। यहाँ तक कि अब इसकी जड़े इतनी गहरी हो गयी हैं कि उनको उखाड़ फेंकना लगभग असंभव है। तब स्वाभाविक है कि जिस समाज में नौकरशाही या अन्य अधिकारी जन्म लेते हैं वे सत्ता प्राप्ति के बाद फरिशते तो नहीं हो सकते। आज भ्रष्ट देशों की रेंकिंग में भारत का 81वां नम्बर है।

दूषित राजनीतिक वातावरण भारतीय समाज की एक और पहचान बनती जा रही है। वैसे तो किसी भी समाज को दलीय राजनीतिक व्यवस्था विकृत करती है, लेकिन भारत में यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। यदि यह कहा जाये कि वर्तमान भारत की राजनीति सभी सामाजिक बुराईयों-भ्रष्टाचार, धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, प्रचण्ड राष्ट्रवाद की जड़ है तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। इसने भारत की सदियों पुरानी बुराईयों जातिवाद, रुढ़िवाद तथा वर्ग-वाद को एक हथियार के रुप में इस्तेमाल किया है। सब से अधिक संकट की बात यह है कि जहाँ ब्रिटिश कालीन नौकरशाही तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के प्रति वफादार थी, वहां स्वतन्त्र भारत में नौकरशाहों की वफादारियाँ राजनीतिक दलों की परिवर्तनशीलता के विचार, विश्वास, विचारधाराएं, उद्देश्य, आस्थाऐं, सब को भारतीय अधिकारी आत्मसात् कर लेते हैं। लेकिन यहाँ संविधान की आत्मा का हनन होता है। लोकतंत्र, धर्म निरपेक्षता, समाजवाद इत्यादि सब मात्र कोरे शब्द बनकर रह जाते हैं। इसका कारण है, मार्क्स के शब्दों में ''नौकरशाही का परजीवी होना''।

नैतिक मूल्यों में गिरावट भी भारतीय समाज की व्यवस्था को असंतुलित करती है। भ्रष्टाचार उसका एक परिणाम है। नौकरशाही इस गिरावट से अछूती नहीं है। इस नकारात्मक तथ्य का प्रभाव प्रशासनिक व्यवस्था पर पड़ना स्वभाविक है। प्रशासन में लालफीताशाही तथा अपराधीकरण एक वास्तविकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. परिस्थितिकीय परिवेश का विचार किस चिन्तक ने दिया?
   क. मैक्स वेबर ने ख. कार्ल मार्क्स ने
   ग. एफ0डी0 रिंग्स ने घ. विलियम राइकर ने
2. नौकरशाही के लिए शब्द 'ऑफिशियल्स' (officials) का प्रयोग किस विचारक ने किया?
   क. रिग्स ने ख. हीगेल ने
   ग. डाउन्स ने घ. विल्सन ने
3. भारतीय समाज की विशेषता है-
   क. एकलवाद ख. बहुलवाद
   ग. साम्यवादी समा घ. सांस्कृतिक राष्ट्रवाद
4. भारतीय अधिकारीतंत्र कितने चरणों से गुज़रा है?
   क. चार से ख. दो से
   ग. तीन से घ. पांच से
5. जवाहर लाल नेहरु ने किस प्रशासनिक चिन्तक को भारतीय प्रशासनिक सुधारों के लिए बाहर से बुलाया?
   क. हरबर्ट साइमन ख. लूथर गुलिक
   ग. मैस्लो घ. एपेल्बी

6. भ्रष्टाचार निवारण के लिए किस भारतीय सलाहकार को नियुक्त किया गया?

क. अवस्थी ख. अल्तेकर

ग. सन्थानम घ. पायली

1.10 सारांश

- समाज एक वृहत अवधारणा है। सामाजिक परिवेश से सभी संस्थायें प्रभावित होती हैं। प्रशासन भी अछूता नहीं रहता है। इस दृष्टिकोण का प्रतिपादक एफ0डी0 रिंग्स है। उसने परिस्थितिकीय नज़रियें से प्रशासन की विवेचना की है।
- समाज स्वतः अस्तित्व में नहीं आता है। उसके निमार्ण तथा विकास के भी कारक होते हैं। इतिहास और आर्थिक व्यवस्था बड़े निर्णायक कारण हैं। भारतीय समाज का इतिहास भी ऐसे ही अनेक कारकों की देन है।
- भारतीय समाज के अनेक पहलू हैं कुछ सकारात्मक और कुछ नकारात्मक। सकारात्मक पहलुओं में पहुलवाद और विभिन्नता में एकता उसकी पहचान है। समाज के नकारातमक पहलुओं ने भारतीय समाज को दूषित किया है। जातिवाद, वर्ण-व्यवस्था, रुढ़िवाद, धर्मान्धता, चरमपंथ, साम्प्रदायिकता, आर्थिक विषमता, भ्रष्टाचार, राजनीतिक प्रपंच तथा आतंकवाद ऐसी बुराइयाँ हैं जिन्होंने समाज के विकास तथा आधुनिकीकरण में बाधा पहुँचाई है।
- अधिकारीतंत्र या नौकरशाही शासन का एक महत्वपूर्ण घटक है। मैक्स वेबर ने सर्वप्रथम नौकरशाही की क्रमिक अवधारणा प्रस्तुत की और एक ''आदर्श नौकरशाही'' का प्रतिमान तैयार किया। लेकिन आगे चलकर शब्द 'नौकरशाही' बदनाम हो गया, इसलिए एन्थानी डाउन्स ने नौकरशाही के स्थान पर शब्द 'ऑफिशियल्ज' (अधिकारी वर्ग) का प्रयोग किया।
- भारतीय अधिकारीतंत्र का भी एक विस्तृत इतिहास रहा है। यह ब्रिटिश काल (1600-1858) तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तहत और उसके बाद (1858-1947) विभिन्न चरणों से होकर गुजरा है। इस पूरे दौर में यह अपनी सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित हुआ है और उसके अनुसार संचालित भी हुआ है।
- भारतीय अधिकारतंत्र का वर्तमान इतिहास 1935 के भारत सरकार अधिनियम के साथ आरम्भ हेाता है। यह अनेक सुधारों की उत्पत्ति है और निरन्तर विकास की प्रक्रिया से गुज़र रहा है।
- जहाँ भारतीय नौकरशाही (1600 से 1858) तक ब्रिटिश परम्पराओं और पश्चिमी मानसिकता से प्रभावित रही, वहाँ 1858 से 1947 तक यह ब्रिटिश शासन व्यवस्था तथा भारतीय समाज की परम्पराओं से प्रभावित हुई।
- स्वतन्त्रता के बाद भारतीय अधिकारतंत्र पूरी तरह भारतीय समाज की सकारात्मक अच्छाईयों और नकारात्मक बुराईयों का प्रतिबिम्ब रहा है।
- भारत की संवैधानिक व्यवस्था-लोकतंत्र, संघात्मक, संसदात्मक, राज्य की नीति के निर्देशक तत्व, मौलिक अधिकार, समाजवादी, धर्मनिरपेक्षता अवधारणायें-इन सब ने अधिकारतंत्र को प्रभावित किया है।
- संक्षेप में यदि भारतीय अधिकारतंत्र को उसकी पृष्ठभूमि में झांकर देखा जये तो अनेक अदभुत तथ्य सामने आयेंगे।

1.11 शब्दावली

एकोलॉजी (Ecology) शाब्दिक अर्थ है 'परिस्थितिकीय अर्थात् वे परिस्थितियाँ जो समाज की संस्थाओं को प्रभावित करती हैं। इस अवधारणा का प्रतिपादक है एफ0डी0 रिग्स।

प्लूराल्जिम (Pluralism) अर्थात् 'बहुलवाद'। यह किसी समाज की वह विशेषता है जिसमें विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों, विश्वासों, भाषाओं, जातियों इत्यादि का अस्तित्व बना रहता है और सब में समरसता का संचार होता है।

ओ0 एण्ड एम0 अर्थ है संगठन एवं प्रबन्धन। यह लोक-प्रशासन की वह अवधारणा है जिसकी सिफारिश ऐपल्बी ने की जिसका उद्देश्य प्रशासनिक अनुशासन एवं व्यवस्था बनाये रखना है।

1.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ग, **2.** ग, **3.** ख, **4.** ग, **5.** घ, **6.** ग

1.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. अवस्थी-अवस्थी: भारतीय प्रशासन, आगरा।
2. विष्णु अग्रवाल विद्या भूषण: लोक प्रशासन के सिद्धान्त, नई दिल्ली।
3. डॉ0 एस0एस0 मीतल: तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाऐं, आगरा।
4. त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी: तुलनात्मक लोक प्रशासन, नई दिल्ली।

1.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. K. Singh : Indian Social System, Lucknow
2. F.D. Riggs : The Ecology of Public Administration, London.
3. Introductory Memorandum Relating to the Civil Service (1930) by Royal Commss। on (Tomlin), Britian.
4. Gladden, E.N., Civil Service or Bureauracy.

1.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1. रिग्स का प्रशासन के बारे में परिस्थितिकीय (Ecological) दृष्टिकोण क्या है?
2. बहुलवादी समाज का क्या अर्थ है? भारत के संदर्भ में समझाइए।
3. भारतीय समाज के नकारात्मक पहलू क्या हैं? वे किस प्रकार से नौकरशाही को प्रभावित करते हैं?
4. भारत की सामाजिक पृष्ठभूमि में अधिकारीतंत्र की स्थिति क्या है?
5. सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भारत में अधिकारीतंत्र को किन चुनौतियों का सामना करना पड़ता है?

इकाई- 2 तटस्थता बनाम प्रतिबद्ध अधिकारीतंत्र (नौकरशाही)

इकाई की संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 अधिकारीतंत्र: महत्व एवं प्रकृति
2.3 अधिकारीतंत्र की विषेषताएं
2.4 तटस्था का अर्थ: वैबेरियन संदर्भ में
2.5 तटस्था एवं प्रतिबद्धता: हीगेलियन संदर्भ में
2.6 तटस्था बनाम प्रतिबद्धता: मार्क्स का दृष्टिकोण
2.7 तटस्था बनाम प्रतिबद्धता: डाउन्स का दृष्टिकोण
2.8 राजनीति में तटस्था: अर्थ
    2.8.1 राजनीति तटस्था और स्वतन्त्रता
    2.8.2 गैर-राजनीतिक तटस्था
2.9 प्रतिबद्धता: प्रशासनिक अर्थ
2.10 तटस्था बनाम प्रतिबद्धता: भारतीय संदर्भ
2.11 प्रतिबद्ध नौकरशाही वर्तमान स्थिति
2.12 सारांश
2.13 शब्दावली
2.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.15 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
2.16 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.17 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

तटस्था तथा प्रतिबद्धता अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) की एक गम्भीर विषय है। विशेष रुप से नवोदित लोकतांत्रिक विकासशील देशों में अधिकारीतंत्र राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ रहे तो कैसे और यदि प्रतिबद्ध रहे तो किसके प्रति, यह ज्वलन्त सवाल है। इस सम्बन्ध में नौकरशाही की प्रकृिति के परिप्रेक्ष्य में नौकरशाही के लगभग सभी प्रशासनिक चिन्तकों ने तटस्था तथा प्रतिबद्धता के मुद्दे को उठाया है, क्योंकि यह एक ऐसा विषय है जो सरकार और प्रशासन के चरित्र को तय करता है। इसलिए अधिकारीतंत्र की प्रकृति या नौकरशाही की विशेषता को समझकर तटस्था और प्रतिबद्धता का अर्थ निकालना आसान हो जाता है। भारत में नौकरशाही अपने संक्रमण काल से निकलकर अपने विकसित रुप के लिए प्रयासरत है। ऐसी स्थिति में प्रतिबद्धता से मुक्त होना जरुरी है विशेष रुप से राजनीतिक चक्रव्यूह से।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) की प्रकृति और विशेषताऐं समझ सकेंगे।

- अधिकारियों के संदर्भ में तटस्थता बनाम प्रतिबद्धता की समस्या और उनका विशेष रुप से प्रशासनिक चिन्तकों के नजरियें से अर्थ समझ पायेंगे।
- ब्रिटिश प्रशासन से लेकर स्वतन्त्र भारत तक अधिकारियों में तटस्थता और प्रतिबद्धता की क्या स्थिति थी यह जान पायेंगे।
- आधुनिक भारत में विशेष रुप से दलगत राजनीतिक माहौल में नौकरशाही की प्रतिबद्धता की स्थिति क्या है, यह भी जान सकेंगे।
- राजनीतिक व्यक्तियों या समूहों के प्रति प्रतिबद्धता किस प्रकार से अधिकारीतंत्र को भ्रष्ट और प्रशासन को विकृत करती है, यह समझ सकेंगे।

2.2 अधिकारीतंत्र: महत्व एवं प्रकृति

लोक सेवा किसी देश के समग्र विकास की एक अनिवार्य शर्त है। ऐसा अतीत में भी था, वर्तमान में भी है और भले ही नौकरशाही के रुप में लोक सेवा की आलोचना कितनी भी क्यों न हो, इसकी प्रासंगिकता भविष्य में भी बनी रहेगी। लोक सेवक किसी भी प्रशासनिक और प्रशासनिक अभिकरणों के मूर्त रुप प्रशासक या अधिकारी ही होते हैं और इनका महत्व प्रायः इतना अधिक होता है कि यह राजनीतिक व्यवस्था का पर्यायवाची बन जाते हैं। शब्द 'अधिकारीतंत्र' अथवा 'नौकरशाही' इसी यर्थाथ का परिणाम है। भले ही राजनीतिक संरचना का नाम राजतंत्र हो, कुलीनतंत्र, अधिनायकतंत्र हो या लोकतंत्र, प्रशासन का चरित्र अधिकारीतंत्रीय ही होगा। नीतियों, नियमों तथा विनियमों को क्रयान्वित करके नौकरशाही सरकारी प्रशासनिक तंत्र का संचालन करती है। निर्णय-निर्माण से लेकर नीति-स्थापन तक नौकरशाही अपनी भूमिका अदा करती है।

अधिकारीतंत्र या नौकरशाही की विशेषताओं, उसकी प्रकृति और राजनीतिक तथा गैर-राजनीतिक घटकों से उसके रिश्तों के बारे में चिन्तकों ने बहुत गहनता से अध्ययन किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रशासन की कार्य-कुशलता या फिर सफलता और असफलता का रहस्य लोक-प्रशासकों के प्रयोजन (Intention) और कार्यशैली में छिपा होता है।

''लोक-सेवा'' शब्द का प्रचलित अर्थ राज्य की प्रशासकीय सेवा की नागरिक शाखाऐं हैं। प्रो0 व्हाइट ने कहा है कि ''एक अच्छा लोक प्रशासन बहुत से तत्वों के संयोजन से बनता है। इनमें सबसे बड़ा तत्व है मानव-शक्ति।'' यह मानव शक्ति कैसी हो, इसका रुख (Attitude) कैसा हो, इसका अन्तिम ध्येय क्या हो-इन सब बातों पर चिन्तकों ने गहराई से मनन किया है। इस सम्बन्ध में, ग्लैडन का कथन बहुत महत्वपूर्ण है। उसने लिखा: ''लोक सेवा से यह अपेक्षित है कि वह बिना पक्षपात के चुनी जायेगी, प्रशासनिक दृष्टि से कार्यकुशल होगी, राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ होगी, तथा समाज सेवी की भावना से ओत-प्रोत होगी।

2.3 अधिकारीतंत्र की विशेषताएँ

अधिकारीतंत्र की कुछ ऐसी विशेषताऐं हैं जो प्रशासन के स्वरुप और चरित्र को निश्चित करती हैं। इन विशेषताओं में कुछ सकारात्मक हैं जो प्रशासन का सफलता पूर्वक संचालन करती हैं और कुछ ऐसी नकारात्मक विशेषताऐं हैं जो विकास में बाधा बनती हैं, और स्वंय अधिकारीतंत्र को नौकरशाही के रुप में उपहास का याक्ष बनाती हैं। सकारात्मक विशेषताओं में लोक सेवा की विशेषता हैं-

1. कार्यकुशलता, प्रशिक्षित होना, योग्य तथा निपुण होना,
2. पेशेवर, वैतनिक तथा स्थायी होना,
3. पदसोपानीयता का सिद्धान्त संगठन का आधार,

4. निर्वैयक्तिक (Impersonal) होना,

5. राज्य-व्यवस्था का अंग होना न कि किसी विशिष्ट वाद या विचारधारा का।

इस सम्बन्ध में बैन्समैन तथा रोजेनबर्ग का कहना है, ''नौकरशाही अथवा लोक सेवा साम्यवाद, समाजवाद अथवा पूंजीवाद किसी भी व्यवस्था का मूल तत्व नहीं है। यह किसी भी प्रकार के समाज में रह सकती है, भले की उसमे निजी सम्पत्ति हो अथवा न हो और आधार में वह भले ही तानाशाही या प्रजातांत्रिक वातावरण अपनाये हुए हो।'' अपनी उपरोक्त पांच विशेषताओं के कारण नौकरशाही से जो प्रशासनिक अपेक्षाऐं की जाती हैं, वे इस प्रकार हैं-

(क) राजनीतिक कार्यपालिका को परामर्श देना

(ख) गैर-राजनीतिक, प्रशासनिक एवं जनहित के कार्यों को अंजाम देना।

(ग) लोक सेवा में ईमानदारी, कर्तव्य निष्ठा, कुशलता, चारित्रिक उत्कृष्टता का परिचय देना और तनावों से मुक्त रहना।

(घ) शासकीय नीतियों का परिपालन करना।

(घ) अर्द्ध-विधायी (प्रत्यायोजित विधान) तथा अर्द्ध-न्यायिक (प्रशासकीय) अधिनिर्णय करना, इत्यादि।

मैक्स वेबर ने अधिकारियों की कुछ ऐसी विशेषताओं की ओर इशारा किया जो प्रशासन को गतिशील और उत्तर दायी बनाती हैं। यह हैं-

- अधिकारी किसी अन्य के व्यक्तिक तौर पर सेवक नहीं होते हैं, वे व्यक्तिक रुप से स्वतन्त्र होते हैं और जिस सरकारी पद पर वे नियुक्त होते हैं उसका आधार योग्यता और करार (ठेका) होता है।
- वे उस सत्ता का प्रयोग करते हैं जो निर्वैव्यक्तिक नियमों के द्वारा उनको प्रदत्त की जाती है।
- उनकी तकनीकी (प्रशासनिक) योग्यता (अर्हता) के आधार पर उनकी नियुक्ति होती है तथा पद (कार्य) सौंपा जाता है।
- प्रशासनिक कार्य उनका पूर्ण-कालिक पेशा है।
- निश्चित और नियमित रुप से उनको वेतन मिलता है और अपनी पूरी सेवा अवधि में उनको नियमित प्रगति के अवसर मिलते हैं।

इन पाँच विशेषताओं के अतिरिक्त मैक्स वेबर ने किसी सरकारी अधिकारी (नौकरशाही) को संक्षेप में सात बिन्दुओं में समेटा है: (1) निर्वैव्यक्तिक व्यवस्था, (2) नियम, (3) सक्षमता का क्षेत्र (sphere), (4) पदसोपानीय संरचना, (5) व्यक्तिक एवं जन ध्येय, (6) लिखित दस्तावेज, तथा (7) एकलवादी व्यक्तित्व।

नौकरशाही की नकारात्मक विशेषताओं में लाल-फीताशाही, भ्रष्टाचार, स्वेच्छाचारिता, नीरसता, पक्षपातपूर्ण रवैय्या तथा स्वहित की पूर्ति ऐसी बुराईयाँ हैं जो अधिकारीतंत्र को दूषित करती हैं। मैक्स वेबर, रिग्स, मार्क्स तथा एन्थॉनी डाउन्स ने नौकरशाही का जो मूल्यांकन किया है उससे अनेक महत्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट होते हैं-

(क) अधिकारियों को निर्वैव्यक्तिक होना चाहिए लेकिन अक्सर वे होते नहीं है।

(ख) उनको स्वतन्त्र (व्यक्तिक रुप से) होना चाहिए लेकिन वे होते नहीं है।

(ग) उन्हें स्वालम्बी होना चाहिए, लेकिन वे परजीवी होते हैं।

(घ) उनकी निष्ठा विशिष्ट व्यक्तियों, विचारधाराओं तथा विशेष व्यवस्था के प्रति नहीं होनी चाहिए, लेकिन वे ऐसा करते हैं।

परिणामस्वरुप नौकरशाह न तो तटस्थ और निष्पक्षता का पालन करते हैं और न ही समाज अथवा जन-समुदाय के प्रति उनकी निष्ठा और प्रतिबद्धता बनी रहती है। यहाँ से प्रश्न उठता है प्रशासन में लोक सेवकों की तटस्था तथा प्रतिबद्धता का।

2.4 तटस्था का अर्थ: वैबेरियन संदर्भ में

नौकरशाही के संदर्भ में तटस्था को राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया जा सकता है। लेकिन इसका अर्थ समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित हुआ है। उदाहरण के लिए मैक्स वेबर ने सत्ता अथवा प्राधिकार (Authorty) के तीन प्रकार बताएं हैं- (अ) परम्परागत सत्ता (Traditional Authority), (ब) करिश्माई या चमत्कारिक सत्ता (Charismatic Authority), तथा (स) विवेकपूर्ण वैद्य सत्ता (Rational Legal Authority)। इन तीनों प्रकार की सत्ताओं की विवेचना से सेवी वर्ग की विशेषताऐं-विषेष रुप से तटस्था, निष्पक्षता तथा प्रतिबद्धता के विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

परम्परागत सत्ता में प्रशासनिक अधिकारियों की प्रकृति स्वामीभक्त होती है। आनुवांशिक अधिकारी सरदार से जुड़े व्यक्ति होते थे। गैर-आनुवांशिक सत्ता में शुद्ध रुप से व्यक्तिक स्वामिभक्ति (प्रिय पात्र) मातहत (निष्ठा से जुड़े हुए) की प्रवृत्ति होती थी। सत्ताधारी को 'स्वामी' कहा जाता था। तटस्था का अभाव था। परम्पराऐं और व्यक्तिक योग्यता तटस्था के परिकल्पना को विलुप्त करती थी। अधिकारियों को 'अनुचर' कहा जाता था। व्यक्तिक वफ़ादारी के तहत आज्ञा पालन होता था। क्योंकि व्यवस्था सामन्ती होती थी, इसलिए अधिकारी स्वामी के वफ़ादार सहयोगी होते थे। उनके कार्य मालिकों की 'सनक', 'अभिरुचियों' और 'मनोतरंगों' के अनुसार होते थे।

करिश्माई सत्ता में सत्ता एक नेता के पास होती है जो एक दूत (पैगम्बर), एक नायक (हीरो) या एक भड़काऊ नेता हो सकता है जो अपनी जादुई शक्ति अपनी वाक्य चतुराई (वक्ता) अथवा अपनी वाक्य बाज़ीगरी से जनता को समोहित कर लेता है। इसी विशेषता को करिश्मा कहा जाता है और यही करिश्माई शक्ति उसकी सत्ता को वैद्यता प्रदान करती है। करिश्माई सत्ताधारी ऐसे अनुचरों को अधिकारी बनाता है जो उसके लिए पूर्णतया समर्पित हों। इनकी वफ़ादारी कानून या नियमों के प्रति न होकर करिश्माई सत्ताधारी के प्रति होती है। यह नेता की पसंद नापसन्द के अनुसार काम करते हैं। अतः यहाँ प्रतिबद्धता नेता के प्रति होती है और शब्द तटस्था अर्थहीन बन जाता है।

वैधानिक-तार्किक सत्ता में, सत्ता उन संगठनों में निहित होती है जहाँ वैधानिक तौर पर नियम लागू होते हैं और उन नियमों के अनुसार संगठन के अभिकर्ता काम करते हैं। यहाँ व्यक्ति जो सत्ता का प्रयोग करते हैं वे उच्चतर व्यक्ति होते हैं (Superior) जो वैधानिक प्रक्रिया से विधिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए चुने जाते हैं। वे 'कानून' का पालन करते हैं। पूरा सरकारीतंत्र कानूनी होता है। संगठन में निरन्तरता होती है और वह तब तक बना रहता है, जब तक उसको विधिक तौर पर मान्यता मिली रहती है। यही तार्किकता है जहाँ अधिकारी 'तटस्थ' रहता है तथा उसकी प्रतिबद्धता नियमों के प्रति होती है।

वेबर ने वैधानिक-तार्किक नौकरशाही को सर्वोत्तम बताया है, क्योंकि यहाँ (अ) वैधानिक संहिता के आधार पर अधिकारी आदेशों का पालन करते हैं। (ब) कानून निराकार नियमों की एक पद्धति होती है जो संगठन के लक्ष्यों की पूर्ति करती है। (स) अधिकारी निर्वैयक्तिक आदेश (वतकमत) का पालन करते हैं। (द) यहाँ आदेश का पालन व्यक्ति के प्रति न होकर उस निर्वैव्यक्तिक आदेश के प्रति होता है जो वास्तविक आदेश का स्रोत है। वेबर अपने इस सिद्धान्त से वैधता (Legitinacy) और निर्वैयक्तिक आदेश में एक रिश्ता स्थापित करता है।

इस तरह वेबर ने राजनीतिक स्तर पर नौकरशाही की तटस्थता और कानून के प्रति उसकी प्रतिबद्धता को 'आदर्श नौकरशाही' की संज्ञा दी है। वह यह मानकर चलता है कि नौकरशाही की राजनीतिक तटस्था तथा विधि के प्रति उसकी प्रतिबद्धता ही उसको आधुनिक संस्कृति और सभ्यता का एक अपरिहार्य घटक बना सकती है, विशेष रुप से पश्चिमी जगत में।

2.5 तटस्था एवं प्रतिबद्धता हीगेलियन संदर्भ में

मार्क्स से पूर्व हीगेल ने भी नौकरशाही की प्रकृति और उसकी भूमिका पर विस्तार से लिखा। वह राज्य को तार्किक समाज का अन्तिम विकसित चरण मानता था। वह राजा, (शासक), मंत्रियों और नौकरशाहों को राजनीतिक

अभिकर्ता (Actors) मानता था। उसका मानना था कि नौकरशाही सर्वजनीय समुदाय के हितों के प्रति प्रतिबद्ध है। यही राज्य का हित है। इस दृष्टि से नौकरशाही एक 'सार्वभौमिक जागीर' या भू-क्षेत्र है। इसकी कानूनी हैसियत और हितों को बनाये रखना नौकरशाही का काम है।

हीगेल नौकरशाही को ''विचारों का अवतार'' या मूर्तरुप मानता है (embodiment of Ideas)। उसकी नजर में नौकरशाही अपनी प्रकृति से स्वायत्त और स्वतन्त्र है। वह लोक नीतियों का प्रतिबिम्ब है, न कि जन समुदाय की सोच का। हेगेड्स के अनुसार हीगेल उन लोगों को अधिकारी और नौकरशाह मानता है जो एक जागरुक शासक की ओर से अपना उत्तरदायित्व निभाते हैं। काम करते है, या फिर एक संवैधानिक राजतंत्र और एक आधुनिक राज्य की ओर से नौकरशाही पर हीगेल के दृष्टिकोण से निम्न तथ्य सामने आते हैं-

1. राज्य समाज का अन्तिम विकसित रुप है, और राज्य के हित वास्तव में समाज के हित हैं।
2. नौकरशाही की प्रतिबद्धता राज्य के प्रति है।
3. यदि राजा या संवैधानिक राजतंत्र या आधुनिक राज्य समाज का प्रतिनिधित्व करता है तब नौकरशाहों की प्रतिबद्धता प्रतिनिधि के प्रति है।
4. विचार (Ideas) सर्वोच्च है। वही अन्तिम वास्तविकता हैं। राज्य इन विचारों का प्रतिबिम्ब या छाया है और नौकरशाह राज्य के मूर्त रुप हैं। इसलिए वे विचारों के प्रति प्रतिबद्ध हैं, वे तटस्थ नहीं है।
5. सर्वजन हिताय राज्य का उद्देश्य (motto) है। नौकरशाही की तटस्था और प्रतिबद्धता इसी उद्देश्य में छिपी है।

2.6 तटस्था बनाम प्रतिबद्धता: मार्क्स का दृष्टिकोण

हीगेल का कहना था कि नौकरशाही समुदाय के सामान्य हित का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए उसकी प्रतिबद्धता समुदाय के प्रति होती है। इस अवधारणा को मार्क्स ने स्वीकार नहीं किया है।

मार्क्स का दावा यह है कि ''नौकरशाही राज्य के भीतर एक बन्द समाज है।'' राज्य क्या है? इसके उत्तर में मार्क्स ने कहा राज्य के तीन रुप हैं। पहला, राज्य वर्ग आधिपत्य का एक उपकरण है। दूसरा, यह दमनकारी है और वर्ग (अल्पसंख्यक पूंजीपति या सामन्ती) द्वारा दूसरे वर्ग (मजदूर, किसान इत्यादि) का दमन करने में सहायता प्रदान करता है। तीसरे, राज्य एक अल्पकालिक संस्था है। मार्क्स के अनुसार नौकरशाही का काम तत्कालीन व्यवस्था को बनाये रखना और इसी उद्देश्य के लिए प्रशासन करना है। वह कानून और राज्य को मानव मस्तिष्क की उपज न मानकर ''भौतिक स्थितियों'' को राज्य और कानून का जनक मानता है। भौतिक स्थितियों का निर्माण 'उत्पादन की पद्धति' करती है। इस तरह मार्क्स की नज़र में नौकरशाही तत्कालीन आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को बनाये रखकर अपने अस्तित्व को बनाऐं रखती है। इसलिए मार्क्स ''नौकरशाही को परजीवी'' (parasites) कहता है।

संक्षेप में, मार्क्स की दृष्टि में ''नौकरशाही राज्य का सार है, वह समाज का आध्यात्मिक निचोड़ है, वह (राज्य) की निजि सम्पत्ति है।''

नौकरशाही के बारे में मार्क्स की इस अवधारणा से जो तथ्य सामने आते हैं, वे हैं-

(अ) नौकरशाही की प्रतिबद्धता राज्य के प्रति है।

(ब) नौकरशाही की प्रतिबद्धता दमनकारी (पूंजीवादी, सामन्ती) वर्ग के प्रति है।

(स) नौकरशाही की प्रतिबद्धता दमनकारी शक्तियों (पुलिस, फौज) वर्ग के प्रति है।

(द) जब राज्य विलुप्त हो जायेगा तब नौकरशाही की प्रतिबद्धता समाज के प्रति होगी अथवा यह भी सम्भव है कि राज्य के विलुप्त होने के साथ नौकरशाही अपने वर्तमान स्वरुप में विलुप्त हो जाये।

2.7 तटस्था बनाम प्रतिबद्धता: डाउन्स का दृष्टिकोण

एन्थानी डाउन्स ने अपने शेध प्रबन्ध 'इनसाइड ब्योरियोक्रेसी', (1964) में दो आधारभूत परिवर्तन करके नौकरशाही का विश्लेषण किया है। पहला, शासन के स्थान पर ब्योरोज की परिकल्पना तथा शब्द नौकरशाह के स्थान पर अधिकारी (ऑफिशियल) का प्रयोग अर्थात राज्य का उद्देश्य ब्योरोज के माध्यम से पूरा होता है और ब्योरोज में काम करने वाले कर्मचारीगण अधिकारी (उच्च स्तर पर) कहलायें जाते हैं। ''निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया ब्योरोज में अधिकारियों द्वारा अंजाम दी जाती है।'' इस तरह ब्योरोज साध्य हैं और अधिकारी उपकरण (साधन)। अधिकारियों की विशेषता वही है जो 'नौकरशाह' या लोक सेवक की होती है। डाउन्स के नौकरशाही विश्लेषण से जो तथ्य सामने आये हैं वे यथार्थ के बहुत समीप और चौकाने वाले हैं-

1. कुछ ऐसे अधिकारी होते हैं जिनका लक्ष्य अपनी शक्ति, प्रतिष्ठा, सुरक्षा, सुगमता, सुविधा बढ़ाना होता है। यह विशुद्ध, आत्म-हितकारी होते हैं। इनकी प्रतिबद्धता स्वयं के प्रति होती है, ब्योरोज के प्रति नहीं। यहतटस्थ नहीं रहते हैं। डाउन्स ऐसे अधिकारियों को पर्वतारोही (Climbers) तथा अनुदार (Conservers) कहता है। यह यथास्थिति में विश्वास करते हैं, और नवीनीकरण का विरोध करते हैं।
2. कुछ ऐसे अधिकारी होते हैं जो आत्म-हितों को जनहित मूल्यों से मिला लेते हैं। यह बड़े चालाक होते हैं। डाउन्स ने इनको उत्साही, समर्थक तथा राजनीतिक तीन वर्गों में बांटा है। उत्साही अधिकारियों की प्रतिबद्धता ऐसी संकुचित नीतियों के प्रति होती है जो उनको लाभ पहुँचाये। समर्थक विस्तृत नीतियों के प्रति वफादार होते है, इस उम्मीद के साथ कि वे अन्ततः उनको भी लाभ पहुँचाऐंगे। राजनीतिक राष्ट्र या समाज के प्रति वफादार होते हैं लेकिन ऐसा करके वे अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने की आशा करते हैं। संक्षेप में नौकरशाही में तटस्था तथा प्रतिबद्धता अधिकारियों के 'आत्महित' के इर्द-गिर्द घूमती है और यही यर्थाथवाद है, जिस पर डाउन्स ने बल दिया है।

2.8 राजनीति में तटस्थता: अर्थ

राजनीति लोकतंत्र का सार है, लेकिन दलगत राजनीति लोकतंत्र का विकृत रुप है। यह सत्ताधारियों में भी भटकाव पैदा करता है और अधिकारियों को भी पथ विचलित करता है। इसलिए अधिकारियों के लिए 'तटस्था' का सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण है।

अधिकारियों का परम ध्येय है जनहित के लिए काम करना। उनकी योग्यता, दक्षता, निपुणता, निष्ठा और अनुभव सब जन-कल्याण के लिए समर्पित होने चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे सरकारी सेवा में प्रवेश करते हैं और सरकार के सेवक होते हैं।

राजनीति एक भ्रम या भ्रान्ति है। इसमें आकृषण है, इसलिए अधिकारी भी इसके लावण्य (Charm) से प्रभावित होते हैं। वे राजनीति में सीधे तो नहीं कूद सकते लेकिन प्रायः वे राजनीतिक दलों तथा राजनीतिक व्यक्तियों से परोक्ष रुप से सम्बद्ध होने के प्रयास करते हैं। कारण होता है अपने निहित उद्देश्यों की पूर्ति करना। इसी तथ्य को मार्क्स ने नौकरशाही की परजीवी स्थिति कहा है। वह अपनी इस स्थिति को रहस्यमय बनाये रखते हैं।

राजनीतिक तटस्था का सिद्धान्त अधिकारियों (नौकरशाहों) से यह अपेक्षा करता है कि वे-

(क) किसी राजनीतिक दल के सदस्य नहीं होंगे और न ही वे अपने आप को किसी राजनीतिक संगठन से जोड़ेंगे,

(ख) सरकारी कर्मचारी/अधिकारी राजनीतिक आन्दोलन या गतिविधि में भाग नहीं लेंगे, न प्रत्यक्ष रूप से और न परोक्ष रूप से,

(ग) सरकारी/कर्मचारी/अधिकारी किसी भी प्रकार के राजनीतिक चुनावों में भाग नहीं लेंगें, न ही किसी दल या व्यक्ति को प्रत्यक्ष या परोक्ष रुप से सहायता पहुचायेंगे।

(घ) कोई भी सरकारी कर्मचारी/अधिकारी की भी प्रकार के मीडिया (रेडियों, टी0वी0 चैनल, प्रकाशन, सोशल मीडिया इत्यादि) के माध्यम से शासन की आलोचना या नीति का विरोध नहीं करेगा। ऐसे संचार माध्यमों का सहारा वे कुछ नहीं करेंगे जिससे राज्यों के मध्य, राज्य और केन्द्र सरकार के मध्य या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर सम्बन्ध खराब हों।

2.8.1 राजनीतिक तटस्था और स्वतंत्रता

लोकतंत्र में सरकारी अधिकारियों को राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ रहना चाहिए, यह अनिवार्य है लेकिन क्या इस सिद्धान्त के अनुपालन से उनकी स्वतन्त्रता के अधिकार का हनन नहीं होता है। यह तक तार्किक सवाल है। व्यावहारिक राजनीतिक निरपेक्षता तथा सामान्य नागरिकता के अधिकारों में समंजन कैसे किया जाये, यह वास्तविक समस्या है।

ब्रिटेन में सरकारी अधिकारियों की राजनीतिक गतिविधियों पर नियुक्त मास्टरमैन समिति (Masterman Commlttee) ने अपनी रिपोर्ट में लिखा: ''जनतंत्रीय समाज में यह वांछनीय है कि सभी नागरिक राज्य के कार्यों में भाग लें और सरकारी विषयों पर अपना मत प्रकट करें। सरकारी सेवक एक उच्च शिक्षित एवं प्रबुद्ध वर्ग हैं। इनको नागरिकता के सब अधिकारों से वंचित नहीं जा सकता, केवल उसी सीमा तक इन पर प्रतिबन्ध लगाये जायें जिस सीमा तक वे सार्वजनिक हित के लिए नितांत आवश्यक हों''।

पश्चिमी समाज में राजनीतिक निरपेक्षता से अधिक राजनीतिक स्वतन्त्रता को महत्व दिया जाता है। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में औद्योगिक ग्रेडों, डाकखानों के अनेक ग्रेडों तथा अन्य साधारण स्तर के कर्मियों को, जो नागरिक सेवाओं का 62 प्रतिशत भाग हैं, राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने की पूर्ण आजादी है। यहाँ केवल 16 प्रतिशत प्रशासकीय अधिकारी हैं जिन्हें ऐसे हैं राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने का अधिकार नहीं है।

भारत में स्थिति ब्रिटेन से विपरीत है। वेतन आयोग ने भारतीय सिविल सेवाओं के लिए राजनीतिक निरपेक्षता के कठोर नियमों का पूरी तरह समर्थन किया है। इसने अपनी रिपोर्ट में लिखा: ''इस देश में अपनाई गई शासन प्रणाली की सफलता के लिए यह जरुरी है कि लोक सेवकों को जो सरकार की नीतियों को प्रभावित करते हैं तथा जिनको प्रशासनिक तथा कार्यकारी शक्तियां प्राप्त हैं अथवा जो नागरिकों को अपने पदों के कारण प्रभावित कर सकते हैं, पद पर बने रहते हुए राजनीति से पूर्णतया दूर रहना चाहिए'', आयोग का यह सुझाव सभी श्रेणियों के कर्मचारियो/अधिकारियों पर लागू होता है। संक्षेप में, आयोग का यह दृढ़मत था कि यदि प्रशासनिक कर्मी प्रत्यक्ष या परोक्ष रुप से राजनीति में भाग लेते हैं तो उनकी सत्यनिष्ठा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और प्रशासन राजनीतिक प्रदूषण से असंतुलित होगा।

2.8.2 गैर-राजनीतिक तटस्था

प्रशासनिक तटस्था की समस्या केवल राजनीति के ही संदर्भ में नहीं है। और भी ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ प्रशासकों से तटस्थ रहने की अपेक्षा की जाती है। इनमें से कुछ क्षेत्र बहुत संवेदनशील भी है। वे सभी क्षेत्र जिनमें अधिकारियों को तटस्थ बने रहने की जरुरत है, वे हैं-

अधिकारियों और अधीनस्थों के मध्य सत्यनिष्ठा पर टकराव,

1. कार्यों के प्रति उत्तरदायित्व या जबावदेही का प्रश्न,
2. कर्मचारियों के सार्वजनिक कर्तव्य एवं निजि हित के मध्य संघर्ष की स्थिति,
3. दान, उपहार, व्यापार इत्यादि से सम्बन्धित आचार संहिता,

4. निजी उद्योग या लाभ की संस्था में परोक्ष रुप से किसी सम्बन्धी के माध्यम से जुड़ना,
5. प्रदर्शनों, सभाओं (जलसों) जलूसों में भाग लेना,
6. किसी संघ से जुड़ना, इत्यादि।

उक्त बातों की गम्भीरता को दृष्टि में रखकर सन् 1964 में सन्थानम समिति ने तटस्था से सम्बन्धित आचार नियमों का परीक्षण करने के बाद लिखा, जिसका सार इस प्रकार है-

(क) ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके अन्तर्गत वरिष्ठ अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की सत्यनिष्ठा पर गौर कर सकें या नज़र रखें,

(ख) यह स्पष्ट नहीं है कि प्रत्येक कर्मचारी अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी है, सिवाय उस दशा में जब वह अपने उच्च अधिकारी के निर्देश पर कार्य करता है,

(ग) ऐसा कोई स्पष्ट नियम नहीं है जिस से कर्मचारी को उस स्थिति में अपने कर्तव्य का स्पष्ट पता लग सके जब उसके सार्वजनिक कर्तव्य एवं निजि हित के मध्य संघर्ष हो,

लोक सेवक गैर-राजनीतिक प्रकृति की धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं में क्या भाग ले सकते हैं, भारत में इस बारे में स्थिति अस्पष्ट है। लेकिन अमेरिका में वे ऐसी संस्थाओं में भाग ले सकते हैं। वहां उन्हें अपनी व्यवसायिक संस्थाओं में भाग लेने का पूरा अधिकार है। सरकार को यह जांच करने का पूरा अधिकार है कि लोक सेवक जिन संस्थाओं में सक्रिय हैं वे प्रतिबन्धित या राज्य विरोधी तो नहीं हैं। यहाँ कर्मचारियों द्वारा अपनी व्यवसायिक संस्थाओं के माध्यम से अपनी सेवा की शर्तों के हित में व्यवस्थापिका, राजनीतिक दल तथा जनमत को प्रभावित किया जाता है। इनका यह कार्य बहुत कुछ राजनीतिक प्रकृति का बन जाता है।

लेकिन अमेरिका में 'हेच अधिनियम' में लोक सेवक की राजनीतिक गतिविधियों पर चार प्रतिबन्ध लगाये गये हैं-

- कोई भी लोक-सेवक दलीय प्रचार के लिए तथा दल के कोष के लिए न स्वयं योगदान करेगा और न अन्य को ऐसा करने के लिए दबाव डालेगा।
- लोक सेवक चुनाव व प्रचार में भाग नहीं लेगा। लेकिन वह राजनीतिक विषयों पर विचार प्रकट कर सकता है।
- लोक सेवक राजनीतिक पद के लिए प्रत्याशी नहीं बन सकता। यह लोक सेवक के पद के सम्मान के विपरीत है।
- लोक सेवक कोई राजनीतिक संगठन नहीं बना सकता।

लेकिन वास्तविकता यह है कि चाहे इंग्लैण्ड हो, अमेरिका या भारत, व्यवहार में लोक सेवकों की राजनीतिक गतिविधियों पर अंकुश लगाना कठिन है। यह अपने हितों की पूर्ति के लिए राजनीतिक दाव-पेंचों में पड़ने से कभी नहीं हिचकते।

2.9 प्रतिबद्धता: प्रशासनिक अर्थ

नौकरशाही में प्रतिबद्धता की अवधारणा सर्वप्रथम मैक्स वेबर ने अपने (वेबेरियन) मॉडल में प्रस्तुत की। उसने लिखा कि ''लोक-सेवक को अराजनीतिक, तअस्थ एवं अनामक होना चाहिए।'' वेबर के अनुसार ''लोक-सवकों की प्रतिबद्धता सत्तारुढ़ राजनीतिक दलों के बजाय नियमों एवं सरकार के प्रति होनी चाहिए।''

ब्रिटेन, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया आदि देशों में प्रशासन निष्पक्ष नौकरशाही की अवधारणा पर आधारित है। अमेरिका, फ्रांस तथा जर्मनी जैसे देशों सैद्धान्तिक रूप में नौकरशाही का झुकाव वेबेरियन नज़रिये से मेल खाता है। लेकिन रुस तथा चीन में ऐसा नहीं है। यहाँ नौकरशाही का झुकाव पहले पार्टी और सत्ताधारी व्यक्ति की ओर होता है।

नौकरशाही को प्रतिबद्ध होना चाहिए, यह तो सभी चिन्तक कहते हैं, लेकिन किस सीमा तक और किस के प्रति, यह एक महत्वपूर्ण सवाल है, जिस पर मत भेद है। ऐसी चार संभावनाऐं हैं-

(क) सत्तारुढ़ दल के प्रति प्रतिबद्धता (साम्यवादी देशों में),

(ख) जनता के प्रति प्रतिबद्धता (लोकतंत्र में),

(ग) सत्तारुढ़ व्यक्तियों के प्रति प्रतिबद्धता (संसदात्मक, अध्यक्षात्मक व्यवस्था में),

(घ) नियमों, कानूनों के प्रति प्रतिबद्धता (संवैधानिक व्यवस्था में)।

वास्तविकता यह है कि प्रतिबद्ध नौकरशाही सत्तारुढ़ दल की नीतियों, विचारधाराओं, राजनीतिक वायदों और निर्देशों के प्रति वफ़ादार होती है। और उसकी यह प्रतिबद्धता सत्ता परिवर्तन के अनुसार बदलती रहती है। सत्तारुढ़ दल के पास ऐसे उपकरण होते हैं- जैसे नियुक्तियाँ, पद-पुरस्कार, प्रोन्नति इत्यादि जिनका प्रयोग करके वे अधिकारियों की प्रतिबद्धता को सुनिश्चित करते हैं। उच्च अधिकारी सत्तारुढ़ दल के इशारों पर चलते हैं और अधिकारी की हैसियत से नहीं अधिनस्थों के रुप में कार्य करते हैं। ऐसी प्रतिबद्ध नौकरशाही की अवधारणा प्रशासन को प्रदूषित करती है और उसका राजनीतिकरण जनहित में नहीं होता है।

2.10 तटस्थता बनाम प्रतिबद्धता: भारतीय संदर्भ

भारतीय संदर्भ में नौकरशाही या अधिकारीतंत्र की तटस्था एवं प्रतिबद्धता को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है: पहला, ईस्ट इण्डिया कम्पनी काल (सन् 1600 से 1857 तक), दूसरा, औपनिवेशिक काल (1858 से 1946 तक), तीसरा, स्वतन्त्र भारत काल (1947 से अब तक) तीनों ही कालों में अधिकारीतंत्र की तटस्था तथा प्रतिबद्धता राजनीतिक व्यवस्थाओं, प्रशासनिक संरचनाओं, सुधारों और परिस्थितिकी (Ecology) के अनुसार बदली है। तीनों का सारांश यह है-

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया काल में नौकरशाही का स्वरुप वाणिज्यिक था और उसका लक्ष्य व्यापार था। नौकरशाही पूरी तरह ''लूट प्रथा'' पर आधारित थी। उसकी प्रकृति स्वेच्छाचारी थी। उसकी प्रतिबद्धता 'कम्पनी हित' और 'आत्म-हित' के प्रति थी। भारतीय समाज से उसका कोई लेना देना नहीं था। धीरे-धीरे कम्पनी की महत्वाकांक्षा प्रबल होती गई और शीघ्र ही वह एक प्रमुख यूरोपीय शक्ति बन गयी। सन् 1773 से 1858 का युग ''दोहरी सरकार का काल'' कहा जाता है। इस काल में नौकरशाही कम्पनी के प्रति भी वफादार बनी रही है और ब्रिटिश संसद के प्रति भी, लेकिन ''आत्म-हित'' के प्रति उसकी प्रतिबद्धता में कमी नहीं आई। भारतीय समाज से उसका अलगाव और गहरा हो गया, जो अन्ततः 1857 की क्रांति का कारण बना।

औपनिवेशिक ब्रिटिशकालीन अधिकारीतंत्र सन् 1858 से 1946 तक ब्रिटिश सीमाओं में रहते हुए सन् 1813 से लेकर 1935 तक के प्रशासनिक सुधारों से गुज़र कर विकसित हुआ। इस दौरान अधिकारीतंत्र को भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलनों से उत्पन्न हुई विषम परिस्थितियों का भी अनुभव करना पड़ा। ऐसी स्थिति में अधिकारियों का उद्देश्य भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था को बनाये रखना तथा नौकरशाही की प्रतिबद्धता ब्रिटिश संसद, भारत सचिव और भारत में वायसराय और सूबों के लेफ्टीनेन्ट गवर्ननरों के प्रति थी। यद्यपि, एक सीमा तक प्रशासनिक सुधारों के परिणामस्वरुप नौकरशाही जनहित की भी बात करने लगी थी। लेकिन, सच यही था कि ब्रिटिश लोक-सेवक ब्रिटिश सत्ता के पोषक थे और राष्ट्रीय एवं सामाजिक आकांक्षाओं के विरोधी थे।

स्वतन्त्र भारत में अधिकारीतंत्र ने अपने सम्पूर्ण प्रशासनिक ढाँचे को विरासत के रंग-रूप में प्राप्त किया। अब नौकरशाही अपने स्वरुप, अपनी प्रकृति और अपने आचरण में पूरी तरह से उस स्थिति को पा चुकी थी जिसके कारण उसे बदनामी झेलनी पड़ती है-लाल फ़ीताशाही, स्वेच्दाचारिता, उदासीनता तथा भ्रष्टाचार। आई0ए0एस0 और आई0पी0एस0 के रुप में नया अधिकारी काडर (Cadre) उभरा। इस सेवी वर्ग की नई परिस्थितिकी थी भारत की संवैधानिक व्यवस्था, जिसने संघवाद, संसदात्मकता, बहुदलीय निर्वाचन प्रणाली, पंचायती राज्य और

विचारात्मक आधार पर समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता की बुनियाद डाली। अब भारत में नई नौकरशाही को इस संवैधानिक तक़ाजों के अनुसार काम करना था।

इसलिए यह सवाल स्वभाविक था कि नौकरशाही को किसके प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए-संविधान और कानून के प्रति, प्रशासनिक नियमों एवं विनियमों के प्रति, सत्तारुढ़ दल के प्रति, सरकार के प्रति या जन समुदाय के प्रति? यह एक विवादास्पद प्रश्न था जिस पर एक राय होना कठिन था। विद्वानों का मानना था कि प्रतिबद्ध नौकरशाही सत्तारुढ़ दल के कार्यक्रमों के साथ वचनबद्ध है। कारण यह है कि सत्तारुढ़ राजनीतिक दल अधिकारियों की नियुक्तियों से लेकर स्थानान्तरण तक सारी शक्तियाँ अपने हाथ में रखता है।

2.11 प्रतिबद्ध नौकरशाही: वर्तमान स्थिति

वर्तमान भारत में एक ओर संवैधानिक व्यवस्था है और उसके तकाजे हैं, तो दूसरी ओर लोकतंत्र का सब से अधिक विकृत रुप दलगत राजनीति है। भारतीय अधिकारीतंत्र इन दो विरोधात्मक लहरों के मझधार में फंसा हुआ है। लोक सेवक स्वंय इस दुविधा में रहते हैं कि वे राजनीतिक प्रपंच में तटस्थ रहें तो कैसे और प्रतिबद्धता प्रकट करें तो किसके प्रति? वेबेरियन नौकरशाही के परिप्रेक्ष्य में जो सैद्धान्तिक बातें उनके सामने हैं वे हैं-

1. अधिकारियों को निर्वैव्यक्तिक (Impersonal) आदेश का पालन करना है।
2. अधिकारियों को केवल कानून का पालन करना है।
3. अधिकारी व्यक्तिक तौर पर स्वतन्त्र हैं, वह किसी अन्य व्यक्ति के नौकर नहीं हैं। एक समझौते के तहत उसको सरकारी पद मिला है।
4. उसकी तकनीकी (प्रशासनिक) योग्यता के आधार पर उसको नियुक्ति और कार्यभार मिला है। यहाँ उस पर सत्ताधारी की कृपा नहीं है।
5. प्रशासनिक कार्य उसका पूर्णकालिक व्यवसाय है। अपने काम के बदले में उसे सत्त वेतन मिलता रहता है, और उसकी प्रोन्नति होती रहती है।

यह (वेबेरियन) ऐसे सिद्धान्त हैं कि यदि इनको व्यवहारिकता प्रदान की जाये और इनमें किसी प्रकार का राजनीतिक हस्तक्षेप न किया जाए, तब निश्चित तौर पर लोक सेवक तटस्थ रहकर कानून के तहत सरकार के प्रति प्रतिबद्ध रह सकते हैं।

लेकिन भारत में वर्तमान स्थिति इसके विपरीत है। वास्तविकता यह है कि बहु-दलीय (लगभग 25 राजनीतिक दल) राजनीतिक व्यवस्था, राज्य सरकारों की अस्थिरता या निरन्तर सत्ता परिवर्तिन इत्यादि ने तटस्था तथा प्रतिबद्धता के सिद्धान्त को प्रभावित किया है। राजनीतिक दल, राजनीतिक व्यक्ति, सत्ताधारी तथा परा-संवैधानिक गुट अनेक तरीकों (उपकरणों) का प्रयोग करके नौकरशाहों की प्रतिबद्धता अपने प्रति सुनिश्चित करते हैं। इनमें उत्पीड़न (धमकी) और प्रलोभन दोनों उपकरणों का प्रयोग होती है। यह इस प्रकार हैं-

1. स्थानान्तरण: यह स्थिति राज्यों की है। मुख्यमंत्री और उसके मंत्री अधिकारियों के निरन्तर स्थानान्तरण करके या स्थानान्तरण का डर दिखाकर अधिकारियों को अपनी मर्जी के अनुसार उनकी प्रतिबद्धता सुनिश्चित करते हैं।
2. महत्वहीन विभागों के पदों पर पदासीन करने का भय पैदा करके अधिकारियों की अपने प्रति प्रतिबद्धता सुनिश्चित करते हैं।
3. अपने कार्यालयों में बुलाकर या सार्वजनिक तौर पर अधिकारियों की प्रताड़ना करके अधिकारियों को स्वयं के प्रति प्रतिबद्ध रहने के लिए मजबूर करते हैं।
4. अधिकारियों का निलम्बन करके या निलम्बन का डर दिखाकर मंत्री या मुख्यमंत्री अधिकारियों को अपने बस में करते हैं।

5. पदावनति (demotion) का डर पैदा करके अधिकारियों की अपने प्रति वफादारी सुनिश्चित करते हैं।

6. सत्ताधारियों का परम उद्देश्य चुनावों के समय सत्ता प्राप्ति के लिए अधिकारियों का प्रयोग करना होता है।

उक्त सभी उपकरण उत्पीड़न (coersion) की परिभाषा में आते हैं। जहाँ तक प्रलोभन का प्रश्न है सत्ताधारी अधिकारियों की प्रतिबद्धता सुनिश्चित करने के लिए उन्हें अनेक तरीकों से पुरस्कृत करते हैं या पुरस्कृत करने का प्रलोभन देते हैं। यह तरीके हैं-

- अधिकारी की मर्जी के अनुसार स्थानान्तरण करना,
- अधिकारी को महत्वपूर्ण पदों पर तैनात करना,
- प्रोन्नति में वरिष्ठता को नकार कर अपनी पसंद के अधिकारी को प्रोन्नत करना।

प्रतिबद्धता की अवधारणा का नतीजा यह निकलता है कि प्रशासनिक अधिकारी अपनी स्वतंत्रता, स्वायतता, निर्वैव्यक्तिकता, तटस्थता तथा अपने पद और स्थिति (status) की गरिमा खो देते हैं। वे सत्ताधारियों के प्रति अपनी वफादारी सिद्ध करने के लिए पदावनत (सम्मान को घटाने वाले) कृत्यों का भी प्रदर्शन करते हैं। ऐसा न करने पर उनकी प्रगति (Career) खतरे में पड़ सकती है। इसी तथ्य को जान कर मार्क्स ने नौकरशाही को 'परजीवी' कहा था। ऐसी स्थिति में जनता का नज़रिया भी नौकरशाही के प्रति घृणात्मक होता है। वे उसे भ्रष्ट और सत्ताधारियों का पंगू समझते हैं। ऐसे प्रतिबद्धता के सिद्धान्त से प्रशासन का राजनीतिकरण होता है। अधिकारियों में हताशा और उदासीनता जन्म लेती है और अन्ततः प्रशासन विकृत होता है और विकास रुकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. वैधानिक-तार्किक सत्ता में प्रतिबद्धता होती है-
क. राजा के प्रति ख. सरदार के प्रति
ग. नियमों के प्रति घ. सत्ताधारियों के प्रति।

2. नौकरशाही को ''विचारों का अवतार'' किसने कहा?
क. मार्क्स ने ख. ब्राउन ने
ग. मैक्स वेबर ने घ. हीगेल ने

3. ''नौकरशाही की प्रतिबद्धता 'दमनकारी वर्ग' के प्रति है'' यह किसका कथन है?
क. हीगेल का ख. मैक्स वेबर का
ग. मार्क्स का घ. किसी का नहीं

4. किसने कहा कि ''नौकरशाही में प्रतिबद्धता अधिकारियों के आत्म-हित के इर्द-गिर्द घूमती है।''
क. एन्थानी ने ख. मार्क्स ने
ग. एल0डी0 व्हाइट ने घ. हीगेल ने

5. मास्टरमैन समिति का सम्बन्ध किस देश से है?
क. अमेरिका से ख.फ्रांस से
ग. स्वीडेन से घ. ब्रिटेन से

2 .12 सारांश

- किसी भी सभ्य समाज के समग्र विकास की एक अनिवार्य शर्त है। एक सुदृढ़ एवं गतिशील प्रशासनिक व्यवस्था। अधिकारीतंत्र या नौकरशाही प्रशासन की रीढ़ होती है। इसलिए प्रशासनिक चिन्तकों ने नौकरशाही के प्रत्येक पहलू का गहनता से अध्यन किया है।

- नौकरशाही के दोनों पहलू हैं- नकारात्मक जिसके कारण उसकी आलोचना होती है, और सकारात्मक जो उसे राज्य के विकास के लिए अपरिहार्य बना देती है।
- नौकरशाही की कुछ सर्वमान्य विशेषताऐं हैं जिन पर मैक्स वेबर ने बहुत अधिक बल दिया है। इन में नौकरशाही का निर्वैव्यक्तिक (impresonal) होना और नियमों के प्रति प्रतिबद्ध होना बहुत महत्वपूर्ण विशेषता है। नौकरशाही की नकारातमकता उस स्थिति में हानिकारक होती है जब लोक सेवक नियमों के प्रति प्रतिबद्ध न होकर व्यक्ति विशेष के प्रति वफ़ादार होता है। तब उसकी निष्पक्षता और तटस्था समाप्त हो जाती है।
- अधिकारीतंत्र के संदर्भ में दो मुद्दे उभर कर सामने आते हैं- एक तो यह कि प्रशासनिक अधिकारी को अपनी सेवा के दौरान राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ रहना चाहिए, और दूसरा यह कि उसकी प्रतिबद्धता किसी व्यक्ति के प्रति नहीं होनी चाहिए। तटस्था और प्रतिबद्धता सिक्के के दो पहलू हैं, जो एक प्रशासनिक समस्या भी है।
- मैक्स वेबर ने तटस्था और प्रतिबद्धता को 'सत्ता' के परिप्रेक्ष्य में समझाया है। उसके अनुसार परम्परागत 'सत्ता', करिश्माई सत्ता तथा तार्किक-वैधानिक सत्ता के अनुसार तटस्था तथा प्रतिबद्धता निश्चित होती है। तार्किक-वैधानिक सत्ता सर्वोत्तम है, क्योंकि इसमें नौकरशाही कानून और नियमों के प्रति प्रतिबद्ध होती है।
- हीगेल, मार्क्स तथा एन्थानी डाउन्स ने भी नौकरशाही पर गहन चर्चा की है। हीगेल ने नौकरशाही की प्रतिबद्धता 'राज्य' के प्रति, मार्क्स ने यह प्रतिबद्धता 'दमनकारी' वर्ग के प्रति तथा डाउन्स ने 'आत्महित' के प्रति इस प्रतिबद्धता को दर्शाया है।
- व्यक्ति भावनाओं का पुतला है। सरकारी अधिकारी भी इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं है। लोकतंत्र में सर्वाधिक आकृषण राजनीति के प्रति होता है। अधिकारी भी परोक्ष रुप से इसके पीछे भागता है। यहीं से प्रशासन में राजनीतिक तटस्था का प्रश्न उभरता है। अधिकारियों को राजनीतिक तौर पर तटस्थ रहना चाहिए, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है।
- तर्क यह भी है कि अधिकारियों को गैर-राजनीतिक क्षेत्रों में भी तटस्थ रहना चाहिए-विशेष रूप से धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक घटकों में, क्योंकि आधुनिक लोकतंत्र में कहीं न कहीं गैर-राजनीतिक घटक भी राजनीति को (दबाव गुटों के रुप में) प्रभावित करते हैं, और वे अपनी परा-महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अधिकारियों का प्रयोग करते हैं।
- भारत में नौकरशाही की तटस्था तथा प्रतिबद्धता सत्ता की प्रकृति तथा परिस्थितिकी के अनुसार निश्चित हुई है। औपनिवेशिक काल में यह ईस्ट इण्डिया कम्पनी और ब्रिटिश संसद के प्रति तथा और भारत में अंग्रेजी सरकार के प्रति थी। स्वतन्त्रता के बाद यह राजनीतिक दलों, व्यक्तियों तथा परा-संवैधानिक शक्तियों के प्रति प्रतिबद्धता ने भारतीय प्रशासन को पथ-भ्रष्ट तथा विकृत किया है।

2.13 शब्दावली

निर्वैव्यक्तिक (Impersonal): जहाँ व्यक्ति के प्रति किसी अधिकारी की प्रतिबद्धता न हो।
लाल-फीताशाही (Red–Tape-ism): जब सरकारी फायलों पर लाल फीता बांधकर उनका निबटारा विलम्ब के साथ किया जाये।

पर्वतारोही (Climber): ऐसे अधिकारी जो आत्म-हित की चिन्ता में लगे रहते है तथा शक्ति प्राप्त करके प्रोन्नति की शिखर तक पहुँचने का प्रयास करते हैं।

उत्पीड़न (Coersion): शक्तिशाली द्वारा धमकी देकर, डराकर या धमकी को व्यवहारिक रुप देकर किसी अन्य के आचरण को अपनी इच्छानुसार बदलना।

मनावन (Persuasion): किसी व्यक्ति के आचरण को समझाबुझा कर या प्रलोभन देकर या पुरुस्कृत करके अपनी इच्छानुसार बदलना।

2.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ग, **2.** घ, **3.** ग, **4.** क, **5.** घ

2.15 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. अवस्थी-अवस्थी: भारतीय प्रशासन, आगरा।
2. डॉ0 रविन्द्र प्रसाद, वी0एस0 प्रसाद (सम्पादन), प्रशासनिक चिन्तक, दिल्ली।
3. डॉ0 एस मीतल, मंजू मीतल: तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएं, मेरठ।
4. विष्णु भगवान, विद्या भूषण: लोक प्रशासन के सिद्धान्त, नई दिल्ली।
5. त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी: तुलनात्मक लोक प्रशासन, जयपुर।

2.16 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Merton, Robert K. : (Ed.) Reader in Bureaucracy.
2. Albrow, Martin : Bureaucracy, London.
3. Blau, Peter M. : Bureaucracy in Modern Society, NewYork.

2.17 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अधिकारीतंत्र की विषेषताऐं क्या हैं?
2. अधिकारी तंत्र में तटस्था और प्रतिबद्धता का अर्थ क्या हैं? तटस्था तथा प्रतिबद्धता पर एक लेख लिखें।
3. भारत की वर्तमान राजनीति के परिप्रेक्ष में अधिकारियों की प्रतिबद्धता समझाइए।
4. प्रतिबद्धता के बारे में वेबर, हीगेल तथा मार्क्स का दृष्टिकोण क्या था? समझाइए।

इकाई-3 सरकारी अधिकारियों और राजनेताओं के बीच सम्बन्ध

इकाई की संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 राजनीतिक सत्ता और प्रशासनिक सत्ता में अन्तर
3.3 राजनेताओं तथा अधिकारियों के सम्बन्ध (188-1947)
3.4 मन्त्रियों और लोक सेवकों के सम्बन्ध: सिद्धान्त और व्यवहार
3.5 मन्त्रियों और लोक सेवकों के सम्बन्ध: ब्रिटिश परम्परा
3.6 राजनीतिक-प्रशासन द्विविभक्तीकरण
    3.6.1 वाल्डो का दृष्टिकोण
    3.6.2 मैक्स वेबर और निर्वैव्यक्तीकरण
3.7 राजनेताओं और अधिकारियों के सम्बन्ध: भारतीय संदर्भ
3.8 निष्कर्ष
3.9 सारांश
3.10 शब्दावली
3.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.12 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
3.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.14 निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

इस इकाई में राजनेताओं और सरकारी अधिकारियों (लोक सेवकों) के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण किया गया है। यह दर्शाने का भी प्रयास किया गया है कि यह सम्बन्ध ब्रिटिश औपनिवेशिक काल से लेकर 1947 तक कैसे थे और कौन से कारकों ने उनका निर्धारण किया था। 1947 के बाद इन सम्बन्धों का क्या स्वरुप और प्रकृति रही और आधुनिक भारत में उनका स्वरुप किया है।

राजनेताओं तथा लोक सेवकों के पारस्परिक संबंध देश के शासन, प्रशासन और विकास की दिशा तैय करते हैं। इसलिए यदि यह सम्बन्ध समरसता और सहयोग के हैं तो निश्चित रुप से समाज के विकास पर इसका अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। इस इकाई में उन सभी तथ्यों की विवेचना की गई है जो राजनेताओं और लोक सेवकों के सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं। सम्बन्धों का विश्लेषण प्रशासनिक चिन्तकों के निष्कर्षों के सन्दर्भ में भी किया गया है। उदाहरण के लिए डुवीट वाल्डों, प्रो0 लास्की तथा मैक्स वेबर के नज़रियों को इस इकाई में दर्शाया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राजनेताओं एवं सरकारी अधिकारियों के पारस्परिक सम्बन्धों को समझ पायेंगे।
- इन सम्बन्धों के निर्धारण में कौन-कौन से कारक अपनी भूमिका अदा करते हैं, यह जान पायेंगे।
- भारत में नौकरशाही का इतिहास क्या है, औपनिवेशिक काल में राजनीति-नौकरशाही की प्रकृति क्या थी, तथा किन चरणों से गुजर कर उसने स्वतन्त्र भारत में प्रवेश किया, यह सब जान सकेंगे।

- प्रशासनिक चिन्तकों ने इन सम्बन्धों के बारे में अपने क्या विचार रखें अथवा क्या सिद्धान्त प्रतिपादित किये, यह भी जान पायेंगे।
- राजनेताओं और लोक सेवकों के बीच सम्बन्ध क्यों बनते बिगड़ते हैं और इनका प्रशासन और शासन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इन तथ्यों से भी अवगत होंगे।
- भारत में राजनेताओं और अधिकारियों के सम्बन्धों की वर्तमान स्थिति क्या है, यह भी समझ सकेंगे।

3.2 राजनीतिक सत्ता और प्रशासनिक सत्ता में अन्तर

शासकीय व्यवस्था की दो महत्वपूर्ण जन्तत्रीय प्रणालीयाँ हैं अध्याक्षात्मक व्यवस्था तथा संसदीय व्यवस्था। ब्रिटेन और भारत में संसदीय व्यवस्था है। इस व्यवस्था में कार्यपालिका के दो स्पष्ट प्रकार देखने को मिलते हैं। पहला, राजनीतिक और दूसरा, अराजनीतिक या प्रशासनिक। केन्द्रीय सरकार में प्रधानमंत्री और राज्यों में मुख्यमंत्री (भारतीय संदर्भ में) और मंत्रिमण्डल के सदस्य राजनीतिक कार्यपालिका की श्रेणी में आते हैं। यह एक निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा निर्वाचित तथा संवैधानिक व्यवस्था द्वारा नियुक्त होते हैं तथा कार्यपालिका की पदसोपानीय व्यवस्था में शीर्ष पर होते हैं।

दूसरी श्रेणी में गैर-राजनीतिक या प्रशासनिक कार्यपालिका आती है। यह पदसोपानीय व्यवस्था में नियमानुसार पदों के रुप में विभाजित होती है। यह स्थायी कार्यपालिका है जिसका चयन योग्यता के आधार पर होता है इसके प्रकृति या प्रवृत्ति के अनुसार अनेक नामम हैं-लोक सेवा, नौकरशाही, प्रशासनतंत्र और अधिकारीतंत्र लेकिन काम एक ही है जिसे सार में 'प्रशासन' कहते हैं।

राजनीतिक कार्यपालिका के मुख्य कार्य हैं- नियोजन, निति-निर्धारण, निर्णय-निर्माण, क्रियान्वयन का निरीक्षण, उनका मूल्यांकन-निर्देशन और संसद के प्रति जवाबदेही। इसका एक महत्वपूर्ण कार्य है महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति करना और उनको जिम्मेदारी सौंपना। संक्षेप में राजनीतिक सत्ताधारी शासन के भार को वहन करते हैं तथा मुख्य कार्यपालिका के कार्यों को सम्पन्न करते हैं।

प्रशासनिक कार्यपालिका के सदस्य नियोजन, नीति-निर्धारण, निर्णय-निर्माण इत्यादि में राजनीतिक कार्यपालिका की सहायता करते हैं, उसे परामर्श देते हैं और उसके निर्णयों और नीतियों को क्रियान्वित करते हैं। लोक-सेवकों का एक विशिष्ट व्यक्तित्व होता है जिसके लिए व जाने जाते हैं और प्रशासन चलाने के लिए उनकी एक विशिष्ट शैली होती है, जिसमें वे प्रशिक्षित होते हैं। वे अपने तकनीकी ज्ञान में माहिर होते हैं।

संक्षेप में, संसदात्मक व्यवस्था में दो समानान्तर राजनीतिक और प्रशासनिक कार्य पालिकाऐं समन्वय के साथ चलकर राज्य को उसके अन्तिम लक्ष्य-समग्र विकास की ओर ले जाती हैं, लेकिन शर्त यह है कि दोनों के सम्बन्ध मधुर हों, उनमें कोई द्वन्द न हो।

3.3 राजनेताओं तथा अधिकारियों के सम्बन्ध: (1858-1947)

भारतीय राजनेताओं (सत्ताधारी) और लोक सेवाओं का एक औपनिवेशिक इतिहास है। यहाँ यह याद रखना है कि लोक-सेवाओं ने भारत में ब्रिटेन से प्रवेश किया लेकिन एक वैभिन्यता के साथ ब्रिटेन के विपरीत भारत में लोक सेवा के उच्च पदों के मार्ग सब के लिए खुले हुए नहीं थे। ऐसे पदों पर अधिकांशतः ब्रिटिश नागरिक ही नियुक्त किये जाते थे। लेकिन धीरे-धीरे सुधारों के फलस्वरुप कुछ भारतीय भी इन पदों पर नियुक्त किये जाने लगे। मॉण्टफोर्ड सुधारों ने इस गति को तेज़ किया। ब्रिटेन में लोक-सेवक निर्वाचित प्रतिनिधियों (मंत्रियों) और संसद के अधीन काम करते थे। लेकिन भारत में 1861 से 1921 तक नौकरशाही स्वयं अपनी मालिक थी। द्वैध शासन ने मंत्रियों को शासन करने की सीमित शक्तियाँ प्रदान कीं। यहीं से मंत्रियों तथा अधिकारियों (नौकरशाही) के बीच

संघर्ष का इतिहास आरम्भ हो गया, क्योंकि नौकरशाही स्वयं को नई परिस्थितियों में नहीं ढाल सकी। इस संघर्ष में नौकरशाही को अंग्रेज लैफ्टीनेंन्ट-गवर्नर का साथ मिलता था। अतः मंत्रियों और अधिकारियों में कटुता बनी रहती थी।

यदि गौर से देखा जाये तो पता लगेगा कि 1858 से 1947 तक भारत में अंग्रेज सरकार ने वेबेरियन मॉडल पर लोकसेवा की स्थाना की। किन्तु, व्यवहार में यह मॉडल सफ़ल नहीं हो सका। राजनीति का जो चरित्र उभर कर सामने आया वह वेबोरियन मॉडल से मेल नहीं खाता था। वेबर के सिद्धान्त 'आर्दशों' पर निर्भर थे, लेकिन राजनीति (संसदीय) में 'आदर्श' या 'मूल्यों' की कोई गुजाइंश नहीं है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भारतीय नौकरशाही ने अपने स्वभाव और प्रशासनिक शैली में बहुत कुछ ब्रिटिश विरासत के रुप में ग्रहण किया, लेकिन प्रशासनिक और राजनीतिक सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में उसने ब्रिटेन का अनुसरण नहीं किया। उदाहरण के लिए नीति-निर्माण और क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व ब्रिटेन में राजनीतिक कार्यपालिका में निहित है। वही निर्णय लेती है, आदेश देती है और अधिप्रमाणित करती है। इसके विपरीत, भारत में शक्तियों का विभाजन है। भारत में राजनीतिक कार्यपालिका नीति-निर्माण करती है और लोक-सेवा उसे लागू करती है।

ब्रिटेन में मंत्री नीतियों की असफलता के लिए लोक-सेवकों को जिम्मेदार नहीं ठहरातें हैं। उन्हें नीति-निर्माण तथा निर्णय लेने में अन्तिम सत्ता एवं अधिकार प्राप्त हैं। इसलिए सफलता और असफलता का दोष या श्रेय भी मन्त्रियों को मिलेगा। भारत के समान ब्रिटेन में भी लोक-सेवक मंत्रियों को परामर्श देने वाले ही होते हैं। लेकिन अन्तर यह है कि ब्रिटेन में लोक-सेवकों के परामर्श को गम्भीरता से लिया जाता है लेकिन भारत में ऐसा नहीं है। भारतीय मंत्री लोक सेवकों के परामर्श की अनदेखी करते हैं। तब स्वाभाविक है कि प्रतिक्रिया स्वरुप लोक-सेवकों और मंत्रियों के मध्य मनोवैज्ञानिक द्वन्द बढ़ता है।

3.4 मन्त्रियों और लोक सेवकों के सम्बन्ध: सिद्धान्त और व्यवहार

इसमें कोई संदेह नहीं है कि राजनेताओं (मंत्री) और लोक-सेवकों के पारस्परिक सम्बन्धों की नीव आदर्शमय सिद्धान्तों पर टिकी हुई हैं। इन आदर्श सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति प्रशासनिक चिन्तकों के वक्तव्यों में देखने को मिलती है। इन वक्तव्यों का सार इस प्रकार है-

1. जनतंत्रीय शासन व्यवस्था में मंत्रिमण्डल का विशेष उत्तरदायित्व नीति-निर्धारण और निर्णय-निर्माण है। यह मंत्री जनता के प्रतिनिधि होते हैं और उन से किये गये वायदों को पूरा करना इनका कर्तव्य है। लेकिन प्रायः यह शासन की बारीकियों से अनभिज्ञ होते हैं। इसलिए यह लोक-सेवकों के तकनीकी ज्ञान, वैज्ञानिक जानकारी और अनुभव पर निर्भर रहते हैं। यह इनकी मजबूरी है। जोजेफ चेम्बरलेन ने लोक-सेवकों को सम्बोधित करते हुए कहा: ''आप लोग हमारे बिना काम चला सकते हैं, इस सम्बन्ध में मेरा शक पक्का नहीं है, लेकिन हम (मंत्री) आपके बिना काम नहीं चला सकते, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।'' प्रसिद्ध प्रशासनिक चिन्तक एल0डी0 ह्वाइट ने लोक सेवकों के कार्यों का महत्व स्पष्ट करते हुए लिखा: ''लोक सेवायें प्रशासनिक संगठन का एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सरकार अपने लक्ष्यों को प्राप्त करती है।''
2. मन्त्रीगण शासन की समस्याओं से अनभिज्ञ होते हैं। इनकी सहायता के लिए प्रत्येक विभाग में वास्तविक एवं स्थायी अध्यक्ष एवं सचिव होता है। उसे विभाग का विशिष्ट ज्ञान होता है। वह विभाग सम्बन्धी बातों को मंत्रियों के सामने रखते हैं और नीति निर्धारण में उनकी सहायता करते हैं। नीति निर्धारण के बाद वे ही नीतियों को क्रियान्वित करते हैं। इस बारे में रैम्जेम्योर ने लिखा: ''नीति निर्धारण, निर्णय-निर्माण व उनके क्रियान्वयन में मन्त्रियों पर लोक-सेवकों का प्रभाव इतना अधिक रहता है कि मन्त्रियों को लोक सेवकों

के हाथ की कठपुतली मात्र समझना चाहिए।'' उसने आगे लिखा: ''जब तक कोई मन्त्री स्वाभिमानी गधा न हो या वह असाधारण विवेक, शक्ति व साहस का व्यक्ति न हो, सौ में से निन्यानवे मामलों में वह अधिकारियों के सुझावों को स्वीकार कर लेता है और अंकित पंक्ति पर हस्ताक्षर कर देता है।''

3. प्रसिद्ध राजनीति शास्त्री प्रो0 लास्की, अधिकारियों और मन्त्रियों के मध्य द्वन्द को 'व्यक्तित्व' के नजरिये से देखते है। उनका कहना है: ''यदि मंत्रि का व्यक्तित्व प्रभावशाली है तो वह लोक सेवकों पर हावी रहेगा, पर यदि मंत्री कोई ढीला-ढाला व्यक्ति है तो लोक सेवक उस पर हावी रहेंगे। उसे उनके इशारों पर चलना होगा।''

लेकिन वास्तविकता यह है कि शासन और प्रशासन का लक्ष्य तभी पूरा होगा जब मंत्रीगण और लोक सेवकों के मध्य स्थायी सूझबूझ और सद्भावना हो। लेकिन अक्सर ऐसा होता नहीं है। इसके अनेक कारण हैं-

- मंत्री प्रशासन के विशेषज्ञ नहीं होते हैं। वे वैधानिक एवं संवैधानिक बारीकियों को भी नहीं समझ पाते हैं। दूसरी ओर लोक सेवक तकनीकी और कानूनी ज्ञान में माहिर होते हैं। वे जानते हैं कि लोकतंत्र में लोग अधिक सजग और कानून सर्वोपरि होता है। उनके किसी भी असंवैधानिक या कानूनी कृत्य को अदालत में चुनौती दी जा सकती है। इसलिए लोक सेवक फूंक-फूंक कर कदम बढ़ाते हैं, जबकि मन्त्रियों की नजर मे सिर्फ राजनीतिक पहलू होते हैं। उनको नीतियों के असफल होने का इतना दुःख नहीं होता, जितना उनके दल या दलीय व्यक्ति की चुनावी हार का।
- मंत्री में न तो पहल (Initiative) करने की हिम्मत होती है और न प्रशासन में प्रयोग करने की। वह इन दो बातों से बहुत डरता है। इसलिए उसके कार्यों (नीति-निर्माण) का भार भी लोक सेवकों को वहन करना होता है। इसलिए नीति की सफलता का श्रेय वह स्वयं लेता है और असफलता का ठीकरा अधिकारी के सिर फोड़ देता है लेकिन वह उत्तरदायित्व से बच नहीं सकता। इसलिए, रैम्जेम्योर ने कहा: ''नौकरशाही मन्त्री मण्डलीय उत्तरदायित्व की आड़ में पनपती है और जब वे स्वामी बन जाते हैं तो बहुत घातक बन जाते हैं।''
- मंत्री-पद पर मन्त्रियों की नियुक्ति राजनीतिक आधार पर होती है। राजनीतिक दल में उनकी हैसियत, उनका व्यक्तित्व, उनका अनुभव, व्यावहारिक योग्यता, प्रधानमंत्री की दृष्टि में उनका राजनीतिक या बौद्धिक महत्व और उनकी दल तथा नेतृत्व के प्रति निष्ठा उनको मंत्री की कुर्सी तक पहुँचाते हैं। ऐसी स्थिति में यह अपेक्षा करना कि वे लोक-सेवकों की तरह तकनीकी तौर पर दक्ष होंगे और उन्हें अपने विभाग का सम्पूर्ण ज्ञान होगा, वास्तव में निर्थक है।
- एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य जो मन्त्रियों और लोक सेवकों के सम्बन्धों को निश्चित करता है, वह यह कि मंत्रिगण अस्थायी रुप से अपने पद पर रहते हैं। उनका कार्यकाल राजनीतिक परिस्थितियों पर आधारित है। वे आते हैं और चले जाते हैं। ऐसी अनिश्चितता उनको कमजोर करती है। वे शासन या प्रशासन की बारीकियों को न तो समझ सकते हैं और न समझना चाहते हैं। इसलिए लोक सेवक प्रायः उन पर हावी रहते है।
- मन्त्रीगण पहले राजनीतिक होते हैं, बाद में प्रशासक एक राजनीतिज्ञ के रुप में उनके अनेक उत्तरदायित्व हैं: पहला, राजनीतिक प्रपंचों में अपनी महारत दिखाना, दूसरा, दल में अपनी बैठ बनाये रखना, तीसरे, जनता से सम्पर्क में निरन्तरता बनाये रखना, चौथे, संसद में अपनी जवाबदेही का परिचय देना तथा पांचवे, भावी चुनावों के बारे में रणनीतिकारी का प्रदर्शन करना। अतः स्पष्ट है कि उनके यह बहुआयामी चेहरे उनको प्रशासन से अलहदा कर देते हैं। यदि कोई मन्त्री 'राजनीति' तथा 'प्रशासन' दोनों में माहिर है तो वह निश्चय ही एक अद्भुत व्यक्ति है।

- उक्त सभी कारणों से लोक-सेवकों का मन्त्रियों पर वर्चस्व बना रहता है। यह और बात है कि शिष्टाचार के नाते वे मन्त्रियों का आदर-सत्कार करते हैं और अपने आचरण से वे यह सिद्ध करते हैं कि मंत्री उनके स्वामी हैं और वे उनके अधिनस्थ हैं।

3.5 मन्त्रियों तथा लोक सेवकों के मध्य सम्बन्ध: ब्रिटिश परम्परा

मन्त्रियों और नौकरशाही के पारस्परिक सम्बन्धें के सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं की परम्परा भी ब्रिटेन की राजनीतिक व्यवस्था में ही देखने को मिलती है। नौकरशाही और मंत्रिमण्डलीय प्रणाली का उद्भव यहीं से हुआ है। विवेचना से पता चलता है कि मन्त्रियों तथा लोक सेवकों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में विद्वानों के नजरियों में गहरा मतभेद है। कुछ की मान्यता है कि लोक सेवकों का ब्रिटिश प्रशासन में इतना प्रभाव है कि मंत्री उनके इशारों पर चलते हैं तथा वे उनके हाथ के खिलौने बन जाते हैं। उनका दावा है कि ब्रिटेन में वस्तुतः नौकरशाही का आधिपत्य स्थापित हो गया है।

इस धारणा के विपरीत एक दूसरे वर्ग के प्रशासनिक चिन्तकों का कहना है कि यह सही है कि ब्रिटिश प्रशासन की श्रृंखला में नौकरशाहों का काफी प्रभाव है और मंत्रियों की शक्तियाँ एवं व्यक्तित्व उनसे प्रभावित होते हैं, लेकिन फिर भी वास्तविक निर्णय को शक्ति मंत्रियों में ही निहित है। नीति-निर्धारण और निर्णय-निर्माण का क्षेत्राधिकार सदा मंत्रियों के पास ही रहता है।

इस सम्बन्ध में लास्की का मानना है कि मंत्रियों और लोक-सेवकों के पारस्परिक सम्बन्ध वस्तुतः उनके व्यक्तित्व पर आधारित हैं। ब्रिटेन में साधारणतयः यह देखा गया है कि प्रभावशाली व्यक्ति ही मंत्री बनाये जाते हैं। वे अपने व्यक्तित्व, लोकप्रियता और राजनीति में मजबूत पकड़ के कारण अपने लोक सेवकों पर हावी होते हैं। वे न तो कठपुतली होते हैं और न खिलौना बनते हैं। दूसरी बात यह है कि वैधानिक रुप से लोक-सेवक मंत्रियों के अधीनस्थ होते हैं और उन्हें मन्त्रियों द्वारा लिये गये निर्णयों का सम्मान करते हुए क्रियान्वित करना होता है, लेकिन कब, कैसे और किस रुप में उनका क्रियान्वयन करेंगे, इसमें मन्त्रियों का दखल नहीं है। यही कारण है कि ब्रिटेन में भी प्रायः मंत्रीगण लोक सेवकों के विलम्बकारी और स्वेच्छाचारी आचरण का रोना रोते हुए नजर आते हैं। वे लालफीताशाही को कोसकर अपनी खोज मिटाते हैं।

व्यक्तित्व की दृष्टि से लास्की ने मंत्रियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है-शक्तिशाली (असरदार) व्यक्तित्व वाले, लोकप्रिय व्यक्तित्व वाले एवं भाग्य के सहारे चलने वाले शक्तिशाली व्यक्तित्व वाले मंत्री प्रतिभाशाली और अनुभवी होते हैं। वे अपने विवेक का प्रयोग करते हैं। प्रशासनिक तकनीकी ज्ञान के दायरे में रहकर शासन की समस्याओं पर विचार करते हैं तथा उनका समाधान करते हैं। वे लोक सेवकों को सिखाते अधिक है, लेकिन उनसे सीखते भी हैं। वे अधिकारियों पर आश्रित नहीं रहते। वे परिस्थितियों के अनुसार निर्णय करके अधिकारियों को उनके निर्णयों को लागू करने का आदेश देते हैं। वे अधिकारियों के क्रियान्वयन पर गहरी नजर रखते हैं और यदि अधिकारी कोई गलती करते हैं तो उन्हें मंत्री के आक्रोश को भोगना पड़ता है। ऐसे मंत्रियों से अधिकारी बहुत सतर्क रहते हैं। वे भय से आशंकित रहते हैं। विस्टन चर्चिल ऐसे सशक्त प्रतिभाशाली मंत्री थे कि किसी भी विभाग में उनकी उपस्थिति मात्र से ही वहाँ के अधिकारियों की भावनायें बदल जाती थीं। मार्गेट थेचर ऐसी महिला मंत्री थी जिनके व्यक्तित्व से अधिकारी कांपते थे और इसी कारण वह 'आयरन लेडी' कहलाई गयीं।

मंत्री की लोकप्रियता भी उसके प्रभावी व्यक्तित्व का एक बड़ा कारण है। क्योंकि उनकी लोकप्रियता का स्रोत जनता होती है, इसलिए वे जनता की पसंद और न पसन्द के अनुसार कार्य करते हैं और अधिकारियों की परवाह नहीं करते हैं। वे लोकसेवक के केवल उसी परामर्श को स्वीकार करते हैं जो जनता को पसन्द की कसौटी पर खरा उतरता है। यही लोकप्रियता उनके राजनीतिक अस्तित्व का आधार है। इसकी रक्षा के लिए वे अधिकारियों को अपमानित और प्रताड़ित भी कर सकते हैं। अधिकारी उनकी लोकप्रियता से इतने भयभीत होते है कि वे मंत्रियों की

अतार्किक, असंगत और अवैधानिक बातों को भी स्वीकार कर लेते हैं। उन्हें अपनी नौकरशाही या अधिकारीतंत्र को मंत्री की इच्छानुरुप लोकतंत्रीकरण का जामा पहनाकर मंत्री की मन्शा का औचित्य सिद्ध करना होता है। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो राजनेता कमजोर लेकिन ईमानदार अधिकारियों को अवसाद की स्थिति में पहुँचा देते हैं। जब यह सुनने में आता है कि अधिकारी ने आत्म हत्या कर ली, तो उसका कारण राजनीतिक प्रताड़ना ही होता है। दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविन्द केजरीवाल के एम0जी0 निवास पर धरने पर बैठने तथा उनके द्वारा आई0ए0एस0 अधिकारियों के पक्षपातपूर्ण रवय्ये के आलाचना करने (17 जून 2018) या आई0ए0एस0 एसोसिएशन की सचिव मनीशा सक्सेना ने कहा ''हम पूरी तरह तटस्थ हैं। राजनीतिक दलों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हम भरोसे की संस्कृति चाहते हों। कृपया, हमें राजनीतिक उद्देश्यों के लिये प्रयोग न करें।''

अंत में वे मंत्री हैं जिन्हें रैम्जे म्योर ने 'गधा' कहा है। यह न तो प्रतिभा सम्पन्न होते हैं और न लोकप्रिय। इनका अस्तित्व प्रधानमंत्री की मर्जी पर टिका होता है। यह भाग्य भरोसे ही रहते हैं, क्योंकि ऐसे मंत्री किसी दबाव गुट (धार्मिक, आर्थिक, जातीय या नसलीय) का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसलिए इनको मंत्री बनाना एक राजनीतिक मजबूरी होता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि ऐसे मंत्री केवल लोक सेवकों की छाया मात्र होते हैं जो अपने अस्तित्व के लिए अधिकारियों के परामर्श को परम मानते हैं। इनकी स्थिति उस समय प्रायः बड़ी दयनीय बन जाती है, विशेषकर तब जब वे दलीय कार्यक्रम, मंत्रीमण्डल द्वारा लिये गये निर्णयों और सेवी वर्ग के परामर्श के मझदार में फंस जाते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मंत्रियों में इतनी समझ और अनुभव तो होती ही है कि वे अधिकारियों द्वारा दिये गये परामर्श का औचित्य-अनौचित्य समझ कर निर्णय कर सकें।

3.6 राजनीति-प्रशासन द्विविभक्तीकरण

राजनीति-प्रशासन का द्विविभक्तीकरण (Politics–Administration dichotomy) लोक प्रशासन के विषय की एक अत्यन्त विवादित समस्या है। इस विषय पर अनेक विद्वानों ने अपने मत व्यक्त किये हैं। इनके दृष्टिकोण को समझने से पूर्व राजनीति-प्रशासन द्विविभक्तीकरण पदबंध (Phrase) को समझना होगा। मान्यता यह है कि राजनीति स्वयं में एक परिभाषित विषय है, जिसका अपना एक विशिष्ट क्षेत्र है, और जिसका सम्बन्ध लोकतंत्र से है। इसी तरह प्रशासन भी स्वयं में परिभाषित स्वक्षेत्र सम्पन्न विस्तृत अर्थ वाला विषय है, जिसका सम्बन्ध 'नौकरशाही' से है। प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि क्योंकि लोकतंत्र और नौकरशाही दो भिन्न अवधारणायें है, इसलिए इन दोनों में द्वन्द एक स्वभाविक प्रक्रिया है। लेकिन इस द्वन्द को रोकने का सरलतम उपाय है अपने-अपने कार्य क्षेत्र को पहचान कर सहयोग और समन्वय की स्थिति पैदा करना ताकि विकास की गति न रुक सके। इसी समस्या को समझने एवं सुलझाने में प्रशासनिक चिन्तकों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, जो इस प्रकार है:

3.6.1 वाल्डो का दृष्टिकोण

वाल्डो, जो स्वयं एक प्रशासनिक विश्लेषणकर्ता अधिकारी रह चुका था, प्रशासन की बारीकियों पर गहरी नजर रखता था वह राजनीति विज्ञान का एक प्रबुद्ध प्रोफेसर था और लोक प्रशासन पर उसकी गहरी पकड़ थी। उसकी पुस्तकों में 'दि स्टडी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, डिमॉक्रेसी, व्योरियोक्रेसी एण्ड हीपॉक्रेसी (Democracy, Bureaucracy and Hypocrisy (1977) अत्यधिक प्रसिद्ध हैं।

वाल्डो अनेक मान्यताओं के साथ प्रशासन का विश्लेषण करता है। इनमें पहली मान्यता यह है कि लोकतंत्र और नोकरशाही के मध्य मूलभूत तनाव है। दूसरे, राजनीति/प्रशासन द्विविभक्तीकरण (Dichotomy) निराधार है। यह दोनों बातें लोक सेवकों और राज नेताओं के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करती हैं।

वाल्डो के अनुसार लोक सेवकों का एक बड़ा ध्येय लोकतांत्रिक मूल्यों की प्रतिरक्षा करना है। वे राजनेताओं से कहीं अधिक संविधान के संरक्षक हैं। राजनेता लोकतांत्रिक मूल्यों से छेड़-छाड़ करते हैं लेकिन लोक सेवक ऐसा नहीं कर सकते। उनका काम केवल नीतियों को लागू करना ही नहीं है, वे नीति-निर्माण में बड़ा योगदान देते हैं और ऐसा करते समय वे यह ध्यान रखते हैं कि नीतियाँ और उनका क्रियान्वयन लोकतांत्रिक मूल्यों के अनुसार है या नहीं। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं और निरंकुशता का परिचय देते हैं तो लोकतंत्र खतरे में पड़ सकता है।

वाल्डों का तर्क है कि सरकार व्यापार नहीं है और शासक एवं प्रशासक व्यापारी नहीं हैं। सरकार निजी उद्यम नहीं है। संविधान तथा अन्य लोकतांत्रिक अनिवार्यताओं का सम्मान करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। इसलिए, राजनीति/प्रशासन द्विविभक्तिकरण एक गलत अवधारणा है।

वाल्डों का विश्वास है कि राजनीति/प्रशासन, लोकतंत्र/नौकरशाही को जोड़ते हैं। दोनों के अलगाव से लोकतंत्र को खतरा है। जिन प्रशासनिक चिन्तकों ने राजनीति-प्रशासन द्विविभक्तीकरण (dichotomy) का समर्थ किया है, वाल्डो उनके नजरिये का कटु आलोचक है। उसके अनुसार राजनीति और प्रशासन का अलगाव घातक है, क्योंकि ऐसा नीति-निर्माताओं और नीति-क्रियान्वयन कर्ताओं के मध्य सम्बधों में विच्छेद पैदा करेगा। तब प्रशासनिक आचरण तथा राजनीतिक आचरण में टकराव होगा।

वाल्डों का मानना है कि द्विविभक्तीकरण का उद्देश्य नौकरशाही और लोकतंत्र के मध्य चलने वाले टकराव का समाधान करना है और ऐसा तब सम्भव है जब निर्वाचित राजनेता नीति-निर्माण का कर्तव्य निभायें तथा नीति कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व पूरी तरह प्रशासकों पर छोड़ दें।

अंत में वाल्डो इस नतीजे पर पहुँचता है कि यदि राजनीतिक व्यवस्था मूल्यों का निश्चयीकरण करे और प्रशासन के लिये ध्येय निर्धारित करे, तब मूल समस्या का समाधान होगा। ''एक ऐसा दर्शन जरुरी है जो शक्तियों के मध्य सहयोग को बढ़ावा दे, चाहे वे राजनीतिक हों या प्रशासनिक, इन शक्तियों के मध्य प्रतियोगिता नहीं होनी चाहिए।''

3.6.2 मैक्स वेबर और निर्वैव्यक्तीकरण

नौकरशाही के सबसे बड़े विद्वान मैक्स वेबर ने सर्वप्रथम लोक प्रशासन में द्विविभक्तीकरण की ओर इशारा किया था। उसे आभास हो चुका था कि निर्वाचित अधिकारियों (राजनेता) तथा चयनित एवं नियुक्त अधिकारियों (प्रशासक) का गठजोड़ प्रशासन को विकृत करेगा। उसने अपने ''नौकरशाही के प्रतिमान'' में नौकरशाही के निर्वैयक्तीकरण (Impersonalisation) की अवधारणा रखी। निर्वैयक्तिक के यहाँ दो अर्थ हैं: पहला, तो यह कि लोक सेवक को जो शक्ति, सत्ता या नियत्रंण की शक्ति प्राप्त होती है, वह उसको मान्य पद की हैसियत (status) से प्राप्त होती है न कि मात्र व्यक्ति हैसियत से वह व्यक्तिक तौर पर स्वयं में मात्र मनुष्य है, जो भूमिका (Role) अदा करता है। दूसरे, लोक सेवक व्यक्तिक तौर पर स्वतंत्र है, वह किसी का व्यक्तिक रुप में नौकर नहीं है। उसकी नियुक्ति किसी की दया का या पुरस्कार का परिणाम नहीं है। करार (Contract) उसकी सरकारी हैसियत का आधार होता है। यह दोनों बातें एक नौकरशाह की आन्तरिक पदसोपनीय व्यवस्था में तथा बाहरी राजनेताओं (मंत्रियों) तथा अन्य दबाव गुटों से सम्बन्धित रिश्तों को तैयार करती है।

वेबर की आदर्श नौकरशाही की दूसरी विशेषता नियमों (Rules) से उसका बंधा होना है। एक लोक सेवक को नियमों के अनुसार काम करना है न कि मौखिक आदेशों के अनुसार। यही वह विशेषता है जो लोक सेवक और राजनीतिक सत्ताधारी के मध्य सहयोग भी पैदा करती है और तनाव भी। नियमों का विवेकपूर्ण कार्यपालन तनाव दूर कर सकता है। यहीं 'व्यक्तित्व' का खेल आरम्भ होता है। यदि लोक सेवक का व्यक्तित्व लचीला है तो वह अनौपचारिकताओं को वरीयता देकर राजनीतिज्ञ से रिशते बनाये रखता है, लेकिन यदि वह कठोर व्यक्तित्व का है तो वह औपचारिकता (नियम) को महत्व देगा। ऐसी स्थिति में द्वन्द भी होगा, विलम्ब भी। शासन और प्रशासन

दोनों पर दबाव (Stress) पड़ेगा। इसलिए वेबर अपने आदर्श नौकरशाही के प्रतिमान की परिकल्पना में वैधानिकता के साथ तार्किकता पर अधिक बल देता है। यदि नौकरशाही निर्वव्यक्तिक और स्वतन्त्र होगी तो निश्चय ही ''दंभ, स्वेच्छाचारिता और आत्महित'' की भावना का ह्रास होगा। यही तार्किकता का तक़ाज़ा है।

3.7 राजनेताओं तथा अधिकारियों के सम्बन्ध: भारतीय संदर्भ

भारत के संदर्भ में राजनेताओं (मंत्रियों) तथा सरकारी अधिकारियों (लोक सेवकों) के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में तीन प्रमुख काल सामने आते हैं: पहला, औपनिवेशिक काल, दूसरा स्वतन्त्रता के बाद का संक्रमण (transitional) काल तथा तीसरा वर्तमान काल। तीन कालों में लोक-सेवकों तथा राजनेताओं के परस्पर सम्बन्धों की प्रकृति और विशिष्टता में मौलिक भिन्नता देखने को मिलती है। यह इस प्रकार है-

1. **औपनिवेशिक काल-** औपनिवेशिक काल सन् 1600 से आरम्भ होता है और 1946 तक चलता है (पिछले पन्नों में इस काल के बारे में विस्तार से लिखा जा चुका है। इस काल को भी दो चरणों में विभक्त किया जा सकता है-1600 से लेकर 1858 तक तथा 1858 से 1947 तक। पहले चरण की विशेषता यह थी कि इसमें व्यापारी ही अधिकारी ही थे और अन्ततः यह अधिकारी शासक बन गये। अतः व्यापार, प्रशासन और शासन की प्रकृति और स्वरुप पूरी तरह वाणिज्यिक था। इसलिए यहाँ सम्बन्ध भी पूर्णतया वाणिज्यिक थे। हित समान थे, लूट की परम्परा थी, शासकों और शासितों के मध्य द्वन्द था। इस काल में नौकरशाही विकसित नहीं थी। लोकतंत्र भी नहीं था, इसलिए नौकरशाही बनाम लोकतंत्र का भी कोई मुद्दा नहीं था। यदि मार्क्सवादी नजरिये से देखा जाये तो कहा जा सकता है कि इस समय के प्रशासनिक अधिकारी ब्रिटिश व्यापारियों, उद्यमियों तथा वाणिज्यिकों की यथास्थिति को बनाये रखने का उपकरण मात्र थे। इसलिए इस काल में शासकों और प्रशासकों के सम्बन्ध स्वभाविक रुप से सहभागिता पर आधारित थे।

   औपनिवेशिक काल का दूसरा चरण 1858 से आरम्भ होता है जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी की निरंकुशता, स्वेच्छाचारिता तथा नसलीय अहंकार का नतीजा 1857 की बग़ावत के रुप में निकला। सर सैय्यद ने अपनी पुस्तक 'असबाब-ए-बगावत-ए-हिन्द' में बगावत के लिए पूरी तरह अंग्रेज शासकों-प्रशासकों की मानसिकता को और भारतीयों के प्रति उनके दुराग्रही आचरण को जिम्मेदार ठहराया था। परिणाम स्वरुप, कम्पनी के शासन का अन्त हुआ और ब्रिटिश संसद के हाथों में सत्ता आ गई।

   इस चरण की विशेषता यह थी कि भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था पर नौकरशाही का पूरी तरह वरचस्व हो गया। यहाँ नौकरशाही के दो उद्देश्य थे-ब्रिटिश साम्राज्य की यथास्थिति को बनाये रखना तथा आत्म-हित को वरीयता देना। इसके लिए जरुरी था कि आत्म-हित और पर-हित (ब्रिटिश साम्राज्य) के मध्य एक स्वभाविक सहमति हो। ऐसा हुआ। इस काल में शासकों और अधिकारियों के सम्बन्ध मधुर बने रहे क्योंकि यहाँ लोकतंत्र की कुरुपता नहीं थी, इसिलए कोई टकराव भी नहीं था।
2. **संक्रमण काल-** अनगिनत सुधारों की प्रक्रिया तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन के थपेड़ों से गुजर कर 1947 में नौकरशाही ने नये भारत में प्रवेश किया। इस काल की विशेषताएँ यह थीं: प्रथम, अंग्रेज अधिकारी इंग्लैण्ड के लिए रवाना चुके थे। उनका स्थान बचे-खुचे भारतीय आई0सी0एस0 अधिकारियों ने लिया था या फिर नया आई0ए0एस0 एवं आई0पी0एस0 भारतीय काडर यह स्थान ले रहा था। दूसरे, भारत संवैधानिक लोकतांत्रिक व्यवस्था के स्वागत के लिये तैयार था। तीसरे, नौकरशाही अब भी पूरी तरह औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त थी, लेकिन उसे नई राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालना था। चौथे, भारतीय स्वतन्त्रता सेनानी अब भारतीय राजनेता थे। यह कद्दावर, उच्चकोटि और उच्च आदर्श के लोग थे, और नैतिक मूल्यों के पक्षधर थे। इनका प्रभाव और व्यक्तित्व

इनकी शक्ति और नियन्त्रण का आधार था। नौकरशाही का इनको चुनौती देना सम्भव नहीं था। इन महान हस्तियों में जवाहरलाल नेहरु, सरदार पटेल, गोबिन्द बल्लभ पन्त, मौलाना आजाद और कृष्णा मैनन जैसे राजनेता थे जिनके सामने नौकरशाह थर्राते थे।

ऐसा नहीं था कि इस काल में नौकरशाह ताक़तवर नेताओं की मात्र छाया थे। जिन लोक सेवकों का व्यक्तित्व प्रभावशाली था, वे राजनेताओं के दृष्टिकोण से असहमति भी जताते थे। एल0के0झा0 तथा पी0एन0 हक्सर जैसे सचिवों के परामर्श की अनदेखी जवाहर लाल नेहरू और श्रीमती इन्द्रा गांधी भी नहीं कर सकते थे। यह दोनों लोक सेवक श्रीमती गान्धी के विशेष भ्रमण में साथ रहते थे तथा विश्व के प्रतिष्ठित राजनेताओं से विचार-विमर्श में भाग लेते थे। यह संवेदनशील कूटनीतिक मामलों में जो सलाह देते थे उसका सम्मान होता था।

लेकिन श्रीमती गांधी अद्वितीय व्यक्तित्व वाली महिला थीं। सन् 1971 के बाद उन्होंने नौकरशाही को एक उपकरण के रुप में इस्तेमाल करना आरम्भ किया। उन्होंने सचिवालय से अधिक समय तक निर्देशों का इन्तेजार नहीं किया सचिवों को, जो नीति सम्मत प्रशासकीय विभागों में थे, ताश के पत्तों की भांति अस्त-व्यस्त किया तथा प्रशासकीय पदसोपान पर नये ढंग से नजर डाली। लेकिन बाद में उन्होंने इसमें बदलाव किया।

राजनेताओं तथा प्रशासकों के सम्बन्धों के बारे में श्रीमती गांधी का अपना नज़रिया था। 9 फरवरी, 1970 के एक भाषण से उनके नये दृष्टिकोण का पता लगता है। उन्होंने कहा: ''मैं ऐसे लोक सेवक नहीं चाहती, जो राजनीतिज्ञों के हाथों में कठपुतली हों तथा जी हजूरिया हों। इनका कार्य केवल स्पष्ट परामर्श देना है। हमें सभी को देश के विकास के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए तथा जनता के कल्याण के साथ हमारा सीधा सम्बन्ध हो''। 04 मार्च 1970 को लोक सभा में दिये गये एक दूसरे भाषण में श्रीमती गांधी ने अपने रुख को स्पष्ट करते हुए कहा: ''लोक सेवकों का कर्तव्य स्पष्ट तथा सच्चा परामर्श देना है न कि उनके निर्णय को भय तथा पक्षपात से जटिल बनाने की अनुमति देना है। मैं निश्चित रुप से ऐसे लोक सेवक नहीं चाहती, जो राजनीतिक दृष्टि से सुविधाजनक हों।''

3. **वर्तमान काल-** सन् 1970 के बाद श्रीमती गान्धी का राजनीतिक काल चुनौतियों और संघर्ष से भरा था। युद्ध, आतंकवाद, समग्र क्रांति, आपात काल, सत्ता वियोग, पुर्नसत्ता प्राप्ति-यह सब कुछ राजनीति और नौकरशाही की सहमति और असहमति का परिणाम था। आपातकाल में जिस तरह लोक सेवकों का इस्तेमाल किया गया और नौकरशाहों ने जिस तरह प्रशासिनक शक्ति का दुरुपयोग किया वह इतिहास का एक बेहद दुःखद अध्याय है। इस कहानी से दो स्पष्ट निष्कर्ष निकलते हैं: पहला तो यह कि एक ताकतवर राजनेता नौकरशाही का आत्म-हित सिद्धि के लिए दुरुपयोग कर सकता है। दूसरे, नौकरशाही गलत परामर्श देकर या डर से गलत निर्णयों को लागू करके देश को संकट में डाल सकती है। यह सब तब सम्भव होता है जब राजनीति और प्रशासन का स्वार्थ-सिद्धि के लिए गठजोड़ होता है।

   श्रीमती गांधी के शासन काल का अन्त भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के असंतुलन और अस्थिरता का आरम्भ है। राजनीतिक अस्थिरता में नौकरशाही मोटी होती है। राजनेताओं से उसके सम्बन्ध द्वन्दात्मक और तनावपूर्ण होते हैं। नौकरशाही अस्थिरता का लाभ उठाकर अपना वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास करती है। वर्तमान काल की यही विशेषता है। इसके अनेक कारण हैं-

   - संसद में किसी एक दल का बहुमत न होना, संसद का त्रिशंकू होना, तथा मिली-जुली सरकार बनना;
   - दलीय-हित टकराव, अनिश्चयकरण की स्थिति, अस्थिरता का माहौल;

- क्षेत्रवाद का पनपना, क्षेत्रीय दलों में वृद्धि, राज्यों में क्षेत्रीय दलों की सरकारें, दलीय टूट-फूट, वफादारियाँ बदलना;
- क्षेत्रीय स्तर पर जातिवादी, साम्प्रदायिक, विघटनकारी राजनीति का बोलबाला, धार्मिक ध्रुवीकरण;
- राजनीतिक का अपराधिकरण, भ्रष्टाचार और इसका प्रशासन पर प्रभाव; तथा
- संकीर्ण, जातिवादी, उग्रवादी विचारधारा का राजनीति में प्रयोग।

उक्त इन सब बातों से केन्द्र और राज्य स्तर पर शासन में अस्थिरता आती है। राजनीतिज्ञ अनिश्चयकरण की स्थिति में रहते हैं। वे कमजोर पड़ने लगते हैं, और अपने राजनीतिक अस्तित्व को बचाने के लिए लोक सेवकों का सहारा लेते हैं।

3.8 निष्कर्ष

1. उक्त तथ्यों तथा विश्लेषण के आधार पर कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते है, जो राजनेताओं तथा लोक सेवकों के पारस्परिक रिश्तों को समझने में सुविधा प्रदान करेंगे।
2. 1970 से पूर्व एवं पश्चात् प्रधानमंत्री एवं नौकरशाही के मध्य सम्बन्धों का विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि राजनीतिक स्थायित्व नौकरशाही पर नियन्त्रण का प्रभावशाली कारण हो सकता है। इसके विपरीत राजनीतिक अस्थिरता प्रधानमंत्री और उसके मन्त्रियों को कमजोर करती है और नौकरशाही राजनेताओं को कठपुतली बना देती है। यह तथ्य राज्यों के मुख्यमंत्रियों, अन्य केन्द्रीय एवं राज्य मंत्रियों पर भी लागू होती है।
3. नौकरशाही बड़ी चतुराई के साथ यह भांपती है कि राज-नेताओं का जनाधार या राजनीतिक आधार कितना प्रबल है अथवा कितना निर्बल है। उनका यही आंकलन राजनीतिक प्रशासनिक सम्बन्धों की रुप रेखा तैय करता है। वे (लोक सेवक) उन्ही राजनेताओं को सहयोग देंगे जो राजनीतिक तौर पर सबल होते हैं।
4. राजनेताओं की योग्यता एवं उनका व्यक्तित्व भी एक बड़ी सीमा तक राजनीतिक प्रशासनिक सम्बन्धों की प्रकृति का निर्धारण करता है। 1980 के बाद राज्यों एवं केन्द्र दोनों स्तरों पर राजनेताओं की योग्यता में गिरावट देखी गयी। यह राजनेता जवाहरलाल नेहरु, श्रीमती गांधी, पं0 गोबिन्द बल्लभ पंत, वल्लभ भाई पटेल, रफी अहमद किदवई इत्यादि की छाया मात्र भी नहीं थे। अतः इस दौर में नौकरशाही का वर्चस्व बढ़ा और वे राजनीतिक अस्थिरता एवं अक्षमता का लाभ उठाते रहे।
5. राजनेताओं की मनः स्थिति को भांपकर भी नौकरशाह अपने प्रशासनिक आचरण को ढालते हैं। वे राजनेताओं को उनकी मनोवृत्ति के अनुसार परामर्श देकर अपना उल्लू सीधा करने में माहिर होते हैं। जनूनी, सनकी, भड़काऊ तथा जनोत्तेजक (demogogic) नेता बड़ी सरलता के साथ नौकरशाही के शान्त, अनुत्तेजित (Calm) लेकिन घूर्तता से भरे व्यवहार के आगे झुक जाते हैं। राजनेता गलत निर्णय लेते हैं, गलत नीतियाँ बनाते हैं और अन्ततः नौकरशाही की उदासीनता उनको और स्वयं राज्य या केन्द्र को ले डूबती है।
6. लोक सेवकों की प्रशासनिक योग्यता भी राजनेताओं-प्रशासकों के सम्बन्धों को तैय करती है। एल0के0झा0 जैसी योग्यता का व्यक्ति, जो केवल एक लोक सेवक ही थे सोवियत संघ (रुस) के कोसिगिन तथा अमेरिका के राष्ट्रपति जानसन् से प्रत्यक्ष रुप से बात करते थे। यही स्थिति पी0एन0 हक्सर और नटवर सिंह की थी। ऐसी प्रतिभा वाले लोक सेवकों के परामर्श के आगे प्रधानमंत्री 'न' की स्थिति नहीं होते थें। जोशिया स्टैम्प ने सही कहा है: ''विकसित या विकासशील समाज के लोक सेवक को मुख्य

जल स्त्रोत होना चाहिए तथा प्रत्येक स्तर पर सुझाव, प्रोत्साहन तथा परामर्श देना चाहिए।'' यहाँ यह स्वीकार नहीं करना चाहिए कि आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में प्रजातंत्र मिथ्या है तथा नौकरशाही वास्तव में शासक है। यह सब कुछ उपरोक्त तथ्यों पर निर्भर करता है।

7. राजनेताओं का लोक सेवकों की तुलना में अधिक महत्व होता है। यह किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में एक सच है। वे जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं और जनता के प्रति उत्तरदायी है। उन्हें सदन के मंच पर संसद सदस्यों के प्रश्नों और रोष का सामना करना पड़ता है। उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव आ सकता है, अगले चुनाव में विरोधी दलों का सामना करना पड़ता है। मीडिया की आलोचना, प्रताड़ना और व्यंग झेलना पड़ते हैं, उन्हें राजनीति का ज्वार भाटा देखना होता है तथा मतदान के तूफान का मुकाबला करना होता है। लोक सेवकों को इन तमाम अंधेरे गलियारों से गुजरना होता है। लोक सेवकों को इन तमाम अंधेरे गलियारों से गुजरना नहीं होता है। यह बात समझकर लोक सेवकों को मात्र एक सलाहकार की ही भूमिका निभानी चाहिए और स्वयं 'अज्ञात' रहना चाहिए।
8. लोक सेवकों का भी महत्व कम नहीं है। मैक्स वेबर का यह कहना सही है कि नौकरशाही किसी भी समाज में अपरिहार्य है। उस से पीछा छुड़ाना मुश्किल है। इसलिए यदि राजनेता लोक सेवकों को अपनी सत्ता प्राप्ति का या यथास्थिति बनाये रखने का उपकरण मानेंगे और असफल रहने पर उनको बलि का बकरा बनायेंगे, उनके निरन्तर स्थानान्तरण करते रहेंगे या फिर उनको जीहजूरिया समझेंगे, तो यह उनके मनोबल को गिराना समझा जायेगा। यह स्थिति नीति-निर्माण और नीति क्रियान्वयन दोनों के लिए घातक होगी। उनमें अधिनस्थ की भावना पैदा होगी, वे उदासीनता, अवसाद (depression) और वियोग का शिकार होंगे, और नीतियों के परिपालन और गतिशीलता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। अन्ततः इसका असर राजनेताओं पर भी पड़ेगा। वे बदनाम होंगे और संभव है कि वे सत्ता से भी वंचित हो जायें अक्सर मंत्री लोक सेवकों की उदासीनता का रोना रोते नज़र आते हैं यह जानते हुए कि लोक सेवकों के नकारात्मक आचरण के लिए वे ही जिम्मेदार हैं।
9. जहाँ मंत्री लोक सेवकों में अधिक विश्वास प्रेरित करते हैं तथा उनको वचनबद्धता के लिए प्रोत्साहित करते हैं, वहां राजनेताओं और अधिकारियों के सबन्ध सहभागिता और सहयोग के होगें, तब शासन और प्रशासन का ध्येय पूरा होगा, विकास में गतिशीलता आयेगी और समाज को इच्छापूर्ति का एहसास होगा। राजनेताओं को श्रीमती गांधी का यह भाषण याद रखना चाहिए ''मैं निश्चित रुप से ऐसे लोक सेवक नहीं चाहती जो राजनीतिक दृष्टि से सुविधजनक हों'' (04 मार्च 1970)

अभ्यास प्रश्न-

1. किसने कहा कि राजनेता और प्रशासकों का द्वन्द 'व्यक्तित्व' पर आधारित है?
   क. मैक्स वेबर ने ख. वुडरो विल्सन ने
   ग. प्रो0 लास्की ने घ. एनथनी डाउन्स ने
2. मन्त्रियों का प्रशासनिक काम क्या है?
   क. नीति-निर्माण ख.नीति-क्रियान्वयन
   ग. सत्ता के लिए संघर्ष घ. इनमें से कोई नहीं
3. राजनीतिक-प्रशासन द्वि-विभक्तीकरण का विचार किस चिन्तक ने रखा?
   क. वाल्डों ने ख. मैक्स वेबर ने
   ग. कार्ल मार्क्स ने घ. मैरी फौलेट ने
4. किस राजनेता का यह विचार था कि लोक सेवकों को जीहजूरिया नहीं होना चाहिए?
   क. सरदार वल्लभ भाई पटेल ख. पं0 गोबिन्द बल्लभ पन्त

ग. जॉन मैथाई घ. श्रीमती इन्द्रा गांधी

5. राजनेताओं की शक्ति का क्या आधार है?

क. योग्यता ख. व्यक्तित्व

ग. जनाधार घ. तीनों

3.9 सारांश

- राजनेताओं और सरकारी अधिकारियों के मध्य सम्बन्ध तनाव के भी रहते हैं और सहयोग और समरसता के भी। यह राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक परिस्थिति की और सामाजिक परिवेश के अनुसार चलते हैं। लेकिन इतना निश्चित है कि यह सम्बन्ध शासन, प्रशासन और तत्कालीन राजनीतिक को प्रभावित करते हैं।
- राजनेताओं तथा लोक सेवकों की अपनी-अपनी प्रकृति, अपने कार्यक्षेत्र और सीमायें होती हैं। लेकिन लक्ष्य सामान्य होता है जन कल्याण। इस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन हैं नीति-निर्माण जो राजनेताओं का एकाधिकार है, लेकिन इन नीतियों का क्रियान्वयन लोक सेवकों का कर्तव्य है। जहाँ इस एकाधिकार तथा कर्तव्य में तालमेल है वहाँ लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है।
- भारत में नौकरशाही-नियंत्रित प्रशासन का इतिहास 1858 से आरम्भ होता है। उस से पूर्व शासक, अधिकारी और व्यापारी (सन् 1600 से 1857 तक) में कोई अन्तर नहीं था। उद्देश्य व्यापार था जो शासकों, अधिकारियों तथा व्यापारियों के गठजोड़ से पूरा होता था।
- 1858 से लेकर 1947 तक राजनेताओं तथा लोक सेवकों के सम्बन्ध सहयोग और सहभागिता के थे, क्योंकि इस दौर में भी हित सामान्य थे, विशेष रुप से अंग्रेज अधिकारियों का उद्देश्य आत्म-हित और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की यथास्थिति को बनाये रखना था। इस काल में सुधारों के माध्यम से नौकरशाही को अधिक उत्तरदायी बनाया गया। भारतीय अधिकारी लगभग ब्रिटिश शासन के पंगू ही थे।
- मंत्रियों और लोक सेवकों के सम्बन्धों का आधार राजनीतिक परिस्थितियां, राजनेताओं तथा लोक सेवकों की मानसिकता और व्यक्तित्व हो सकता है। सिद्धान्त में तो राजनेताओं (मंत्रियों) का काम नीति-निर्माण ही है, लेकिन व्यवहार में वे राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति और उसको बनाये रखना ही अपना वास्तविक ध्येय मानते हैं। इसी तरह लोक सेवकों का वास्तविक काम नीति-कार्यान्वयन है लेकिन प्रोन्नति की शिखर तक पहुँचने के लिए वे राजनेताओं के मूड के अनुसार ही काम करते हैं।
- मंत्रियों और लोक सेवकों के सम्बन्धों पर प्रशासनिक चिन्तकों ने खुलकर बहस की है। इनमें प्रो0 लास्की मैक्स वेबर तथा वाल्डो के विचार सामयिक हैं। इन्होंने मंत्रियों तथा लोक सेवकों के सम्बन्धों के निर्धारण पर अनेक परिस्थितिकीय एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों की खोज की है।
- भारत के संदर्भ में राजनीति-प्रशासन के रिश्तों को तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है: औपनिवेशिक काल, संक्रमण काल तथा आधुनिक काल तीनों चरणों में समय के अनुसार सम्बन्धों का निर्धारण हुआ है।

3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ग, **2.** क, **3.** ख, **4.** घ, **5.** घ

3.11 शब्दावली

द्वि-विभक्तीकरण (Dichotomy) दो भागों में विभक्त होना, पृथक होना, राजनीति और प्रशासन का सम्बन्ध विच्छेद।

निर्वैव्यक्तिक (Impersonal) जिसमें मित्रवत मानवीय भावनाऐं न हों, जो व्यक्ति के रुप में मौजूद न हों। प्रशासक का सम्बन्ध केवल पद से हो न कि किसी अन्य व्यक्ति से।

संक्रमण काल (Transitional period) वह समय जो गुजर जाये, जिसमें स्थायित्व न हो।

3.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी: तुलनात्मक लोक प्रशासन।
2. अवस्थी-अवस्थी: भारतीय प्रशासन।
3. डॉ0 एस0एस0 मीतल तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएं।
4. डॉ0 शरण: भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और संवैधानिक विकास।
5. डॉ0 रविन्द्र प्रसाद: (सम्पादन) प्रशासनिक चिन्तक।

3.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Dwight Waldo : The Administrative State.
2. Asok Chanda : Indian Administration.
3. Buch, M.N. : Administrative Inffeectiveness (art) in M.P. Chromicle, 1984

3.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनेताओं/लोक सेवकों के सम्बन्धों का अर्थ क्या है? उनके सम्बन्धों में तनाव क्यों होता है?
2. नौकरशाह वास्तव में शासक है, समझाइए।
3. राजनीति/प्रशासन द्विविभक्तीकरण का अर्थ क्या है?
4. भारत में ब्रिटिश काल में राजनेताओं एवं लोक सेवकों के सम्बन्धों का स्वरुप का था।
5. आधुनिक भारत में राजनेताओं तथा लोक सेवकों के सम्बन्धों की स्थिति क्या हैं?

इकाई- 4 अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) की क्षमता में वृद्धि करना

इकाई की संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 नौकरशाही की क्षमता में वृद्धि का अर्थ
4.3 नौकरशाही की क्षमता के अवरोध
4.4 नौकरशाही की क्षमता के ह्रास के प्रशासनिक कारण
4.5 प्रशासनिक क्षमता के घटक
4.6 अधिकारीतंत्र की क्षमता और परिस्थितिकीय उपाय: ब्रिटिश संदर्भ
4.7 अधिकारीतंत्र की क्षमता में वृद्धि के प्रशासनिक उपाय: भारतीय संदर्भ
    4.7.1 ए0डी0 गोरवाला के सुझाव
    4.7.2 पाल एच0 ऐपतबी की सिफारिशें: प्रथम प्रतिवेदन
    4.7.3 ऐपल्बी की सिफारिशें: द्वितीय प्रतिवेदन
    4.7.4 सन्थानम समिति का प्रतिवेदन
4.8 भारत के लिए प्रस्तावित मॉडल
4.9 सारांश
4.10 शब्दावली
4.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.14 निबन्धात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

आधुनिक समय में किसी भी देश का अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) शासन की रीढ़ होता है। निति-निर्माण से लेकर नीति-क्रियान्वयन तक सब नौकरशाहों की प्रशासनिक क्षमता पर आधारित होता है। इसलिए यदि इस क्षमता में किसी प्रकार का ह्रास होता है तो राज्य एवं समाज का चहँमुखी विकास रूकेगा। इस सत्य को स्वीकार करते हुए भारत में ब्रिटिश काल से लेकर अब तक सतत् ऐसे प्रयास होते रहे हैं जो प्रशासनिक क्षमता में वृद्धि कर सकें। क्षमता में वृद्धि कैसे हो, इसके लिए सब से पहले क्षमता का अर्थ समझना होगा। तत्पश्चात् उन अवरोधी की पहिचान करना होगी जो क्षमता का निषेध है। इसके लिए आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितिकी के अनुसार प्रशासन में सुधार लाने होगी।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- प्रशासनिक क्षमता का अर्थ और उसका महत्व समझ सकेंगे।
- उन अवरोधों को जान सकेंगे जो प्रशासन और क्षमता को धीमा करते हैं या रोकते हैं।
- नौकरशाहों की क्षमता पर परिस्थितिकी का गहरा प्रभाव पड़ता है, यह परिस्थितिकी क्या है, यह जान पायेंगे।

- क्षमता में ह्रास के कौन से प्रशासनिक कारण हैं, यह जान पायेंगे।
- प्रशासनिक क्षमता के घटकों को भी समझ सकेंगे।
- क्षमता में वृद्धि के लिए क्या उपाय खोजे गये हैं तथा गोरवाला, ऐपल्बी तथा सन्थानम ने इस बारे में क्या सिफारिशें की हैं, यह जान पायेंगे।

4.2 नौकरशाही की क्षमता में वृद्धि का अर्थ

लोक प्रशासन में विशेष रूप से अधिकारियों के संदर्भ में क्षमता का एक व्यापक अर्थ है, जिसमें निपुणता, कौशल, शक्ति, सामर्थ्य और सक्षमता सभी शामिल है। यह वे गुण हैं जो प्रशासक को गतिशील और प्रशासन को सार्थक बनाते हैं। यह गुण समग्र विकास की कुंजी हैं। लोक सेवकों की क्षमता उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य पर निर्भर होती हैं। इस स्वास्थ्य के निर्माण मे आनुवंशिक (Genetic), प्राकृतिक, परिस्थितिकीय (Ecological) तथा शिक्षण और प्रशिक्षण से सम्बन्धित घटक अपनी भूमिका अदा करते हैं। यहाँ सारांश में इनकी चर्चा की जायेगी-

1. **आनुवंशिक कारक-** वह मनोस्थिति एवं शारीरिक क्षमता जो किसी व्यक्ति को पैतृक विरासत में मिले आनुवंशिक होती है मनोविज्ञानिक परीक्षण से इसका अनुमान लगाया जाता है। प्रशासनिक दृष्टि से भावुक, भावावेशी, सनकी, झक्की, जिद्दी, अहंकारी जैसे अधिकारी की क्षमता पर इन मनोविकारों का प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। विवेकशीलता और संवेदनशीलता का प्रभाव सकारात्मक होगा। आनुवंशिक कारकों में बदलाव लाना कठिन जरूर होता है, लेकिन उचित पर्यावरण आचरण में बदलाव ला सकता है।
2. **परिस्थितिकीय कारक-** अधिकारियों की मनोस्थिति एवं व्यवहार पर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, तकनीकी तथा संचार सम्बन्धी कारकों का गहरा असर पड़ता है। प्रशासन तथा पर्यावरण एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। रिग्स के अनुसार प्रशासकों के व्यवहार को जानने के लिये परिस्थिति के गतिज (Dynamics) को जानना जरूरी है। क्षमता का घटना और बढ़ना व्यक्ति, क्षेत्र, शारीरिक शक्ति, सामाजिक यांत्रिकी, विचार तथा जन आवश्यकताओं पर निर्भर है।
3. **शिक्षण एवं प्रशिक्षण-** अधिकारियां के चयन की प्रक्रिया के बाद आवश्यकताओं, अनिवार्यताओं और प्रशासनिक तक़ाजों के अनुसार शिक्षण एवं प्रशिक्षण के माध्यम से चयनित अधिकारियों की मनोवृत्ति को बदलने का प्रयास किया जाता है। तार्किक वैज्ञानिक तथा व्यवहारवादी और मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण अधिकारी को तनावमुक्त रहने, संवेदनशील बनने तथा निष्पक्षता, सहनशीलता और साम्यता के गुण सिखाता हैं और उसे पूर्वाग्रहों से मुक्त करता है।

उपर्युक्त तीनों कारकों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि यदि लोक सेवक मानसिक और शारीरिक रूप से स्वस्थ होंगे तो निश्चित रूप से उनकी क्षमता में वृद्धि होगी।

4.3 नौकरशाही की क्षमता के अवरोध

भारत में नौकरशाही लगभग सवा दो सौ वर्ष पुरानी हो चुकी है। इसके बाद भी उसमें से क्षमता सम्बन्धी अवरोधों को पूरी तरह दूर नहीं किया जा सका है, जबकि लार्ड क्लाइव (1785) के समय से लेकर आज तक भारत की प्रशासनिक सेवा में सुधारों की एक लम्बी श्रृंखला नजर आती है। वर्तमान में अधिकारीतंत्र की क्षमता के अवरोधों का सार इस प्रकार है-

1. **प्रशासन में पश्चता या रूकावट (Log) आना-** आधुनिक सरकार के कार्यो में विविधता, बाहुल्य और जटिलता आ जाने के कारण प्रशासन में पश्चता (Log) की स्थिति बन जाती है। प्रशासन की गतिशीलता

समाप्त हो जाती है। प्रशासकीय मशीनरी की आकांक्षा और निष्पादन में असंतुलन पैदा होता है, जो प्रशासन को धीमा करता है। इसका प्रभाव धीरे-धीरे अधिकारियों की क्षमता पर पड़ने लगता है।

2. **लोक सेवा में बढ़ती हुई विभिन्नता-** संवैधानिक तकाज़ों, आर्थिक चुनौतियों तथा प्रौद्योगिकी के बढ़ते प्रभाव ने सरकारी कार्यों की प्रकृति में बदलाव किया है। इसलिए विशेषज्ञों, प्राविधिज्ञों तथा रणनीतिकारों की नियुक्ति अनिवार्य हो गई है। इस स्थिति ने लोक-सेवा में अनेकरूपता, उलझन, असमन्जस्य और टकरावों को जन्म दिया है। यह स्थिति क्षमता के लिये घातक है।
3. **लोक सेवा में नकारात्मक प्रवृत्ति का पनपना-** यहाँ नकारात्मक प्रवृत्ति का अर्थ है शासन द्वारा प्रशासन में अहस्तक्षेप की नीति को अपनाना। इस नीति ने नागरिक सेवा के कार्यों को प्रायः निरोधक बना दिया है। जब यह स्थिति बढ़ती है तो अधिकारी अकर्मठ, संवेदनहीन और काहिल बन जाते हैं। प्रशासन को लक़वा मार जाता है। विलम्ब होता है। भ्रष्टाचार बढ़ता है। धीरे-धीरे क्षमता पर जंग लगने लगता है।
4. **वैबोरियन मॉडल में व्यवधान-** इंग्लैण्ड की नौकरशाही पूरी तरह वैबोरियन मॉडल पर टिकी हुई है। भारत को यह विशेषता विरासत मे मिली है। लेकिन स्वतंत्र भारत में परिवर्तित संसदात्मक एवं संघात्मक राजनीतिक व्यवस्था के अनुसार ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के स्थान पर स्वयं का प्रतिरूप स्थापित कर लिया गया, जिसके नतीजे में वैबेरियन नौकरशाही का ''तार्किक-विधिक'' प्रतिमान भारत में पूरी तरह क्षतिग्रस्त हो गया। इस स्थिति में जो दुष्परिणाम सामने आये वे इस प्रकार हैं-

   (क) संवैधानिक दृष्टि से तो सब भारतीय नागरिक समान है। लेकिन यह मात्र एक कोरा सिद्धान्त है। व्यवहारिक वैधानिक स्थिति संविधान की भावना के विपरीत है। जातीय और प्रजातीय आधार पर आरक्षण, स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर पर भर्ती में वरीयता तथा कुछ श्रेणी के पदों को सेवा आयोग की परिधि से बाहर रखने का प्रावधान, यह कुछ ऐसे तथ्य हैं जो वैबेरियन मॉडल के विरूद्ध हैं। यहाँ योग्यता का सिद्धान्त टूटता है, अयोग्य व्यक्तियों की नियुक्ति होती है और पदोन्नति से वंचित योग्य अधिकारियों का मनोबल टूटता है। यह सब कुछ राजनीतिक दृष्टि से तैय किया जाता है, जिसके कारण प्रशासनिक द्वन्द बढ़ता है और अन्ततः क्षमता घायल होती है।

   (ख) प्रतिबद्धता नौकरशाही: वैबेरियन मॉडल के अनुसार नौकरशाही को अराजनीतिक, तटस्थ और अनामक होना चाहिए। उनकी प्रतिबद्धता व्यक्तियों या राजनीतिक दलों के बजाए नियमों एवं सरकार के प्रति होनी चाहिए। लेकिन भारतीय राजनीतिक प्रपंच पर आधारित व्यवस्था नौकरशाही को विचलित करती है। राजनीतिक, सामाजिक और धर्मान्धती-विचारात्मक परिवर्तनशीलता की निरन्तरता अधिकारियों को आसमन्जस्य की स्थिति में पहुंचाती है। वे स्वयं को विभिन्न वादों (अवधारणाओं) के अनुसार स्वयं को ढालने में असमर्थ महसूस करते हैं। लेकिन वे ऐसा नहीं करेंगे तो उन्हें परिणाम भुगतने होंगे। परिणाम स्वरूप व अवसाद की स्थिति में पहुँच जाते हैं या फिर उग्र प्रतिक्रियाओं से ग्रस्त होते हैं।

   (ग) स्थानान्तरण व्यवस्था का दुरूपयोग: सरकारी अधिकारियों का स्थानान्तरण यदि तर्क पर आधारित हो तो स्वीकार्य है। गतिशीलता या अपरिहार्यता के लिए ऐसा जरूरी है। लेकिन भारत में विशेष रूप से लोक सेवा में स्थानान्तरण एक राजनीतिक शस्त्र है, जिसका प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है (विशेष रूप से चुनावों से पहले) इसमें मनावन कम उत्पीड़न अधिक होता है। कभी-कभी तो चुनाव में पराज्य का ठीकरा भी अधिकारी (जिलाधिकारी) के सिर फोड़ दिया जाता है। क्षमता की दृष्टि से यह स्थिति भयावह है। जिलों में तैनात अधिकारी दिनों रात होने वाले स्थानान्तरणों से न तो लोगों को समझ पाते हैं, न स्थान को और न समस्याओं को। इस स्थिति में उनका मनोबल गिरता है। वे हतोत्साहित होते हैं। उग्र

प्रतिक्रियाओं से ग्रस्त होने लगते हैं। टकराव की स्थिति बनती है जो विकास कार्यों में रूकावट डालती है।

(घ) उच्च पदों की श्रेणी में वृद्धि: विभागों में सुपरटाइम श्रेणी की स्थापना में वृद्धि का रूजहान भारतीय लोक सेवाओं का अवमूल्यन करता है तथा क्षमता पर बुरा प्रभाव डालता है। तर्क यह है कि लोक सेवाओं में पदोन्नति के अधिक अवसर प्रदान करके अधिकारियों में उत्प्रेरणा का संचार किया जा सकता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि पदोन्नति में वृद्धि स्वयं पदोन्नति की अवधारणा को सस्ता और प्रशासन को ढीला बना देती है। उदाहरण के लिए प्रमुख सचिव पदों के समकक्ष 6 अधिकारियों को विभिन्न पदों पर या एक इंसपेक्टर जनरल ऑफ पुलिस के स्थान पर 8 ऐसे अधिकारियों को प्रोन्नत करना सामान्य औचित्य के विरूद्ध है। लेकिन भारत के अनेक राज्यों में ऐसा होता रहा है। नतीजा यह है कि उच्च पदों का अवमूल्यन हुआ है और क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

4.4 नौकरशाही की क्षमता में ह्रास के प्रशासनिक कारण

अधिकारीतंत्र या नौकरशाही की क्षमता में ह्रास के अनेक कारण आन्तरिक हैं, जिनको प्रशासनिक कहा जा सकता है। यह ऐसे कारण हैं जो नौकरशाही को स्थिर, निश्चल और उसकी क्षमता को मंद या धीमा (stash) कर देता है। निरन्तर अचलता के ऐसे अनेक परिणाम सामने आते हैं। इन्हीं परिणामों के कारण लोक सेवकों को घृणा भाव से नौकरशाह और आजकल ''बाबू'' कहा जाता है। इन प्रशासनिक कारणों में मुख्य रूप से छः कारण इस प्रकार हैं-

1. **शब्दजाल या गोल-मोल बात करना (Circumlocation)-** अधिकारी तंत्र. में औपचारिक नियमों एवं विनियमों का अत्यधिक पालन किया जाए, कागज ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर बार-बार लाये जाएं, क्रियाविधि का अक्षरशः पालन किया जाय, गोल-मोल बातें की जायें, देरी होने पर लोगों को शब्द जाल में फंसाया जाए तथा घुमाव फिराव का तरीका अपनाया जाएं, तो इसके अनेक प्रतिकूल परिणाम सामने आते हैं। धीरे-धीरे फायलों का दफ्तरों में चक्कर लगाना और अधिकारियों और उनके मात्हतों को निरन्तर इसी ढर्रे पर चलना उनके स्वभाव को निश्चल (static) और फकीर का काफीर बना देता है।
2. **लाल फीताशाही-** दफ्तरी घुमाव-फिराव जन्म देता है लाल फीताशाही को, जिसका अर्थ है विलम्ब, जिसका कारण है नियमों का अन्धासुरण और जिसका परिणाम है कार्यक्षमता का नष्ट होना। सच यह है लोक सेवक शरीर (नियम) को महत्व देता है, आत्मा (भावना) को नहीं, जो वास्तविक लक्ष्य है। इस तरह उसके सोचने की, कुछ नया करने की तथा संवेदनशीलता की क्षमता क्षींग हो जाती है।
3. **औपचारिकता-** अधिकारियों के कार्य दर्शन मे औपचारिकता का बड़ा महत्व है। यह जिम्मेदारी या जबावदेही से बचने का सरलतम तरीका है। बस किसी तरह खाना-पुरी करो या जैसे मज़ाक में कहा जाता है कि ''कागज का पेट भरो'' ''बस काम चलाओ और बचो।'' फार्मे का अधिक से अधिक प्रयोग, उन कागजों पर टीका-टिप्पणी का एक निश्चित अन्दाज, निश्चित गढ़े और ढले हुए शब्दों का चयन, फ़त्थलों में लाल, हरें, पीले निशान लगाना, छोटे-छोटे विषयों पर नित बैठकें, बहस करना, हो हल्ला मचाना, खाना-पीना और लिपिकों का कार्यवाही को दस्तावेजी रूप देना, यह सब भारतीय प्रशासनिक औपचारिकतावाद के गुण हैं। इस दौंरान असल मुद्दा तो मुझको जाता है और मुद्दई (सम्बन्धित व्यक्ति) निराशा के गर्त में डूब जाता है।
4. **अनुत्तरदायित्व-** उत्तरदायित्व विहीनता नौकरशाही की क्षमता को दीमक लगा देती है। यह एक निषेधात्मक मानसिकता है। घिसी-पिटी जड़ क्रियाविधि का पालन करना, परिस्थितियों के अनुसार न चलना, परम्परागत अफसराना अन्दाज में काम करना, स्वयं जनता से अलग उच्च श्रेणी का समझना,

मानो ईश्वर ने इनको हुकूमत करने के लिए पृथ्वी लोक पर भेजा है (उपनिवेशों में ब्रिटिश नौकरशाहों की यही सोच थी)। ऐसी सोच लोक सेवक को अनुत्तरदायी बना देती है। यह योग्यता, निपुणता और दक्षता में जंग लगा देती है। वह कुठित बुद्धि के सहारे मात्र श्रेष्ठता को छदम भावना पर जीवित रहता है। प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक बतेन्द्र रसेल की दृष्टि में ऐसी भावना नकारात्मक मनोविज्ञान का विकास करती है। इस तरह लोक सेवकों की सोच संकुचित हो जाती है।

5. **आत्म-हित की मानसिकता-** ऐन्थनी डाउन्स ने आत्महित को नौकरशाही का सब से बड़ा दोष बताया है। उसने अपने शोध-प्रबन्ध में लिखा कि आत्म-हित प्रायः अधिकारियों की सक्रियता का केन्द्र होता है। अधिकारी चाहे पर्वतारोही हो, या अनुदार, यह सब अपनी, शक्ति, आय, प्रोन्नति और प्रतिष्ठता को दिन-रात बढ़ाये रखने का प्रयास करते हैं। यही इनका सर्वोच्च लक्ष्य होता है। यह बड़ी चालाकी से अपने स्तर और स्थिति को बुलन्दियों तक ले जाते हैं। अनुदार लोक सेवी यथास्थिति मे विश्वास रखते हैं। परिवर्तन को यह अपने के लिए खतरा मानते हैं। आत्महित के लिए केवल आत्म-हितकारी क्षमता की आवश्यकता होती है, जिसको लोक सेवक चालाकी से प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन ऐसी स्थिति में जन-हितकारी क्षमता नष्ट हो जाती है।

4.5 प्रशासनिक क्षमता के घटक

प्रशासनिक क्षमता के घटकों से अभिप्राय लोक प्रशासन के उन कारकों से है जो लोक प्रशासन के परा-भौतिक तत्व हैं, जिनका सम्बन्ध मानवीय क्षमता से है। यह तत्व हैं: प्रबन्ध, नेतृत्व, निति-निर्धारण, निर्णय-निर्माण, योजना, समन्वय, संचार तथा पर्यवेक्षण। इन सभी तत्वों का सम्बन्ध मानवीय क्षमता से है। सारांश में इन तत्वों का विश्लेषण इस प्रकार है-

1. **प्रबन्धन-** किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सहकारी यन्त्र करना प्रबन्धन है। यह शब्द प्रशासन का पूरक है। प्रबन्धन एक कला भी है और एक विज्ञान भी। इन दोनों बातों के लिये प्रशासकों या प्रबन्धकों में महारत, योग्यता तथा मानसिक और शारीरिक शक्ति होनी चाहिए। क्षमता की यही मांग है। प्रबन्धक का काम व्यवस्था करने तथा दूसरों से कार्य करवाने की क्षमता से है। यही कला है। कैसे काम लिया जाए यह एक तकनीक है। इसलिए प्रबन्धन एक विज्ञान है।
2. **नेतृत्व-** क्षमता का दूसरा घटक नेतृत्व है। राज्य के अथवा संगठन के लक्ष्यों के अनुसार प्रशासन को गतिशील बनाना, उसको एक नई दिशा देना तथा अधीनस्थों में काम के प्रति उत्साह और उत्प्रेरणा का संचार करना अच्छे नेतृत्व की पहिचान है। इसके लिए शक्ति, चतुराई, बुद्धि, ज्ञान, साहस, जोखिम और दृढ-निश्चय की जरूरत है। जिसमें यह गुण हैं वह सक्षम प्रशासकीय नेता है। वह उत्पीड़न से नहीं मनावन से काम लेता है।
3. **नीति-निर्धारण-** ऐपल्बी ने नीति-निर्धारण को प्रशासन की आत्मा बताया है। नीति-निर्धारण तर्क संगत हो, यह अच्छी नीति की अनिवार्य शर्त है। इसके लिए प्रशासकों में सूझ-बूझ, दूरदर्शिता, तकनीकी ज्ञान, कानूनी जानकारी इत्यादि के गुण होने चाहिए, यद्यपि नीतियां राज-नेताओं के नाम से बनती हैं, लेकिन बनाने वाले प्रशासक ही होते है।
4. **निर्णय-निर्माण-** शासन एवं प्रशासन में निर्णय लेना सबसे कठिन काम है। इस बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि निर्णय सटीक हों, उनके वांछित परिणाम निकलें, वे सामयिक भी हो और दूरगामी भी। उनका लक्ष्य जन-कल्याण हो, प्रशासनिक सुधार हो, वे मात्र सत्ता के बनाये रखने के लिए न हों। उनका आधार विवेक हो, न कि भावावेश सैद्धान्तिक रूप से निर्णय-निर्माण का काम राजनेताओं का होता है परन्तु व्यवहार में नौरकशाह ही इस काम को अन्जाम देते हैं। इसलिए निर्णय-निर्माण उनकी क्षमता पर निर्भर होता है।

5. **योजना बनाना-** योजना बनाना वांछित कार्य करने की तैयारी का नाम है। यह एक प्रयास है जो व्यक्तिगत भी है और सहकारी भी। यह एक तकनीकी काम है। कार्य करने की योजना बनाना एक मनोविज्ञान प्रशासनिक क्रिया है। योजनाओं का निर्धारण, निष्पादन और मूल्यांकन-यह योजना निर्माण के तीन चरण हैं। मन्त्रियों के लिए यह काम असंभव है। नौकरशाह इस कार्य में माहिर होते हैं। इसलिये उनकी इस क्षेत्र में क्षमता का विकास हो, यह जरूरी है।
6. **समन्वय-** उद्देश्य की पूर्ति तभी संभव है जब संगठन में लगे लोगों में तालमेल हो। यही समन्वय है। प्रबन्धक को यह देखना है कि प्रशासनिक कर्मी नियमानुसार अपने कार्यक्षेत्र में रहकर वांछित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सहभागिता और समरसता के साथ अपना निश्चित काम कर रहे है। यदि समन्वय की कमी है तो संगठन का सारा ताना बन टूट सकता है। इसलिये समन्वयक को इस ताने बाने पर गहरी नजर रखनी होती है।
7. **संचार-** प्रशासन में संचार का अर्थ है विचार-विनिमय, तथ्यों की पारस्परिक जानकारी के प्रवाह की निरन्तरता तथा सहभागिता की भावना। मिलेट के शब्दों में, ''सांझे उद्देश्य के लिए सांझे विचार।'' जहाँ प्रशासक इच्छाशक्ति में सशक्त है और मनोवैज्ञानिक तौर पर स्वस्थ है, वहां संगठन में संचार की प्रक्रिया की निरन्तरता बनी रहती है।
8. **पर्यवेक्षण-** प्रशासन की कमजोरी का एक बड़ा कारण पर्यवेक्षण का अभाव होता है। पर्यवेक्षण प्रभावशाली नियंत्रण का एक उपकरण है। संगठन में चल रहे कामों को ऊपर से देखना तथा दूसरों के काम का अधिकारपूर्ण निदेशन करना पर्यवेक्षण है। पर्यवेक्षण के माध्यम से उच्चतर अधिकारी अधीनस्थों की सहायता करते हैं। यह उपकरण कर्मियों में भय पैदा करता है, उन्हें अनुशासित करता है और सजग करता है। इसलिए पर्यवेक्षक (अधिकारी) में पर्यवेक्षण के लिए तकनीकी ज्ञान और महारत होना जरूरी है।

4.6 अधिकारीतंत्र की क्षमता और परिस्थितिकीय उपाय: ब्रिटिश संदर्भ

परिस्थितिकीय उपागम की मान्यता है कि प्रशासन और उसका पर्यावरण एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। दोनों की अन्तःक्रियाओं की प्रक्रिया के कुछ ऐसे गतिज (Dynamics) हैं जिनको समझकर प्रशासनिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

पहली प्रशासनिक समस्या का सम्बन्ध प्रशासकों की क्षमता से है। यह एक व्यवहारवादी सच है कि अधिकारियों (नौकरशाहों) पर परिस्थितिकी का गहरा असर पड़ता है। परिस्थितिकी उनकी मनोस्थिति का निर्माण करती है, और मनोस्थिति उनकी कार्य क्षमता को सकारात्मक या नकारात्मक रूप में प्रभावित करती है। यह अन्तःक्रिया निरन्तर चलती रहती है, जिसका प्रशासन और अन्तः शासन एवं समाज पर असर पड़ता है।

परिस्थिति के एक बड़े सिद्धान्तकार, फ्रेड डब्ल्यू0 रिग्स ने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, तकनीतिकी तथा संचार सम्बन्धी घटकों को प्रशासन पर असर डालने वाले नियायके कारकों के रूप में लिया। यहाँ इनकी संक्षेप में चर्चा की जाएगी।

1. **आर्थिक पर्यावरण-** किसी देश की अर्थव्यवस्था, राज्य के आर्थिक लक्ष्य और समाज की आर्थिक स्थिति, आर्थिक पर्यावरण को तैयार करने वाले घटक हैं। इनका प्रभाव व्यक्ति की आय पर भी पड़ता है। औपनिवेशिक काल में भारतीय समाज ब्रिटिश व्यापारी-पूंजीवादी शासकों और सामन्ती, कुलीन-अभिजात् अधिकारियों और निर्धन भारतीय किसानों, कारीगरों और मध्यवर्गीय सरकारी नौकरों के मध्य बंटा हुआ था। ब्रिटिश नौकरशाहों की प्रवृत्ति साम्राज्यवादी, वाणिज्यिक और दमनकारी थी। साम्राज्य की यथास्थिति को बनाए रखना तथा आत्म-हित उनके परम् हित थे। क्षमता का मापदण्ड इन्हीं हितों की पूर्ति था। अतः सतही तौर पर वे अपनी इस क्षमता में दक्ष थे।

लेकिन 1857 की बगावत के बाद नई राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार ब्रिटिश शासन का नजरिया बदलना शुरू हुआ। वैसे लगभग 1781 से लेकर 1854 तक पहले से ही अधिकारियों की प्रशासनिक मानसिकता को बदलने के लिए अनेक कदम उठाये गए। इनमें वारेन हेस्टिग्स, लार्ड कार्नवैलिस (1785-1793), लार्ड वेलेजली (1798-1805) और लार्ड मैकाले ने (1854) नौकरशाही की ध्येय में वृद्धि के लिए अनेक सकारात्मक कदम उठाए, जिनमें अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना महत्वपूर्ण है। अधिकारियों को उच्च वेतन, निवास के लिए आलीशान बंगले तथा नौकर-चाकर व घोड़े गाड़ियां मोहय्या कराई गयीं ताकि वे किसी भी तरह से आर्थिक दृष्टि से असंतुष्ट न हों।

2. **सामाजिक परिवेश-** सामाजिक परिवेश नौकरशाही की क्षमता पर असर डालने वाला एक महत्वपूर्ण घटक है। जैसा कि लिखा जा चुका है ब्रिटिश अधिकारी (आई0सी0एस0) सामन्ती, कुलीन एवं अभिजात (Elite) वर्ग से होने के कारण तथा श्वेत चमड़ी, पाश्चात्य संस्कृति और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के दबाव में श्रेष्ठता की मानसिकता से ग्रस्त रहते थे। विशेष रूप से भारत जैसे समाज में, जहाँ निर्धनता, अशिक्षा, रूढ़ीवाद, जातीयता और धर्मान्धता का बोलबाला था, श्रेष्ठता की यह मानसिकता और अधिक उग्र थी। वे सिविल लायसों मे रहते थे जहाँ भारतीयों का जाना निषिद्ध था। उनके कल्बों के द्वारा पर ''भारतीय कुत्ते नॉट अलाउड'' लिखा होता था। स्पष्ट है कि उनकी प्रशासनिक क्षमता भी इसी मानसिकता से कुठित थी, जिसने 1857 की बगावत को जन्म दिया।

   इस यथार्थ को दृष्टि में रखकर 1886 में एचिसन आयोग की सिफारिश के अनुसार भारतीय नागरिक सेवा, प्रान्तीय सेवा तथा अधीनस्थ सेवा की स्थापना की गई। इसी तरह प्रथम श्रेणी की सेवा की भर्ती के लिए इंग्लैण्ड में प्रतियोगी परीक्षायें आयोजित की गई जिनमें भारतीय प्रत्याशियों को भी भाग लेने का अवसर दिया गया। अन्य दो प्रकार की सेवाओं में प्रान्तीय स्तर पर भर्ती की व्यवस्था की गई जिनमें केवल भारतीयों को भाग लेने का अवसर दिया गया।

   संक्षेप में उद्देश्य यह था कि अधिकारियें की क्षमता भारतीय समाज की आवश्यकताओं के अनुसर ढले।

3. **राजनीतिक परिवेश-** राजनीतिक परिवेश अधिकारी तंत्र की क्षमता पर गहरा और दूरगामी प्रभाव डालता है। ब्रिटेन एक उदारवादी, लोकतांत्रिक, लेकिन साम्राज्यवादी देश था। उसके लोकतंत्रीय मूल्य उसके उपनिवेश में लागू नहीं होत थे। अधीनस्थ राज्यों में विशेष रूप से भारत में जो राजनीतिक व्यवस्था थी, उसकी विशेषता थी-

   - एकाधिकारतंत्र और उसके समानुरूप अधिकारी तंत्र।
   - नौकरशाही का आचरण निष्ठुर, दंभी और अहंकारी।
   - स्वतंत्रता, समानता और मौलिक अधिकार मात्र एक कल्पना।
   - नौकरशाही, लोकमत के प्रति वफ़ादार न होकर, क्राउन के प्रति प्रतिबद्ध।

उच्च सेवाओं में भारतीयकरण की मांग, नौकरशाही के आचरण में सुधार की मांग, प्रान्तों में भारतीय मन्त्रियों के अधीन काम करने की कलंकपूर्ण स्थिति से मुक्ति की मांग तथा लोक सेवा आयोग की स्थापना पर जोर-यह कुछ ऐसी बातें थी जो अधिकारीतंत्र की क्षमता में वृद्धि करने में सक्षम समझी गयी। परिणाम स्वरूप 1912 से लेकर 1935 के भारत शासन अधिनियम तक जो भी सुधारात्मक प्रशासनिक कदम उठाये गये उनका उद्देश्य नौकरशाही की क्षमता में सुधार करना था।

4.7 अधिकारीतंत्र की क्षमता में वृद्धि के प्रशासनिक उपाय: भारतीय संदर्भ

सरकारी प्रशासनिक मशीनरी में सुधार वास्तव में नौकरशाही की क्षमता में सुधार है। इस सुधार का अर्थ है-

(क) सीमित स्त्रोतों से अधिकतम लाभ, (ख) लोक सेवाओं का अधिकतम उत्पादन, तथा (ग) जन-हित में अधिकारीतंत्र का अधिकतम् योगदान।

यह उक्त तीनो बातें क्यों महत्वपूर्ण है, इसके अनेक कारण हैं जो इस प्रकार है- (अ) शासकीय अभिकरणों की कार्य-संचालन प्रणाली के बारे में जन असंतोष; (ब) सरकारी अधिकारियों (लोक सेवकों) के आचरण के बारे में समाज के सभी वर्गों का असंतोष; तथा (स) सरकारी योजनाओं और कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के बावजूद सकारात्मक नतीजे न निकलना।

उक्त तीनों नकारात्मक बातों को सकारात्मकता में बदलने का एक ही रास्ता है कि प्रशासन के ढाँचे में सुधार किया जाए, प्रशासकों की मनोवृत्ति परिस्थितियों के अनुसार बदली जाऐं तथा वह माहौल तैयार किया जाए जिससे अधिकारियों की क्षमता में वृद्धि हो। स्वतंत्रता के फौरन बाद से ही भारत में प्रशासनिक सुधारों के लिए कदम उठाये जाने लगे थे। इस दिशा में सुधारों के तीन मान्य रूपों को स्वीकार किया गया है यह है-

1. **प्रबन्ध प्रक्रिया-** समस्या के उत्पन्न होने की प्रतीक्षा करना और बाद में उसके निराकरण के लिए एक सक्षम व्यक्ति (उच्च अधिकारी) की नियुक्ति करना, जो एक रिपोर्ट तैयार करता है।
2. **समिति प्रक्रिया-** प्रशासनिक समस्याओं की जाँच एवं समाधान के लिए एक समिति या आयोग की स्थापना करना तथा उसकी सिफारिशों या सुझावों के अनुसार प्रशासनिक कदम उठाना। 1966 में प्रशासनिक सुधार आयोग की स्थापना मील का एक पत्थर माना जाता है।
3. **संगठन तथा प्रणाली-** इसे ओ0 एण्ड एम0 (O and M) कहा जाता है इसकी स्थापना प्रशासन की विभिन्न इकाइयों में की जाती है। अब भारत में ही यह प्रचलित है।

भारत में क्षमता सम्बन्धी प्रशासनिक सुधारों का एक लम्बाई इतिहास है। यहाँ केवल स्वतंत्रता के बाद उठाये गये सुधारात्मक कदमों की संक्षेप में चर्चा की जायेगी। सुविधा के लिए इन सुधारों को चार कालों में विभक्त किया जा सकता है।

4.7.1 ए0डी0 गोरवाला के सुझाव

भारत में 1853 से प्रशासनिक सुधारों का सिलसिला जो शुरू हुआ (डलहौजी के शासन काल से लेकर रिचर्ड टोटेनहम (1946) समिति तक) वह आज भी कायम है। स्वतंत्रता के बाद सुधारों की दिशा में पहला ठोस कदम जवाहर लाल नेहरू ने उठाया, जब उन्होंने 1951 में ए0डी0 गोरवाला की अध्यक्षता में एक आयोग की स्थापना की। गोरवाला ने 70 पृष्ठों पर आधारित अपने ''लोकप्रशासन पर प्रतिवेदन'' नाम से सुझाव प्रस्तुत किए। सुझावों का सम्बन्ध प्रशासनिक संरचना, कार्य-प्रणाली और मानवीय योग्यता एवं क्षमता से था। यह प्रतिवेदन दस बिन्दुओं पर आधारित था, जो इस प्रकार है -

1. नीति-निर्माण और क्रियान्वयन में स्पष्ट अन्तर करना;
2. चयन में मनोवैज्ञानिक पद्धति (परीक्षा) का प्रयोग करना;
3. आर्थिक-असैनिक सेवा की स्थापना करना;
4. अखिल भारतीय सेवा के अधिकारियों को अपने राज्य से दूसरे राज्य में तैनात करना;
5. मन्त्रियों का वरिष्ठ लोक सेवकों से परामर्श करते रहना;
6. प्रतियोगी परीक्षा में सामान्य प्रश्न पत्रों के लिए अधिक अंक निर्धारित करना (लोक सेवा द्वारा);
7. भारतीय प्रशासनिक सेवा संस्थान की संरचना में सुधार करना;
8. व्हिठले परिषद की स्थापना करना;
9. मन्त्री मण्डल की कार्य-पद्धति में सुधार करना; तथा
10. नियोजन में उत्तरदायित्व का विकेन्द्रीकरण करना।

लेकिन गोरवाला के इन सुझावों पर कोई अमल नहीं किया गया। इस दौरान 1952 में आर0ए0 गोपाल स्वामी ने ''सरकारीतंत्र की कार्यक्षमता की अभिवृद्धि'' पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह रिपोर्ट भी गुमनामी की गर्त में चली गयी।

4.7.2 पाल एच0 एपल्बी की सिफारिशें: प्रथम प्रतिवेदन

1952 में सरकार ने प्रशासनिक सुधारों पर विचार करने के लिए विश्वविख्यात प्रशासनिक चिन्तक पाल एच0 ऐपल्बी की नियुक्ति की। भारतीय लोक प्रशासन एवं सेवी वर्ग के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पहलुओं का अध्ययन करने के बाद ऐपल्बी ने ''लोक प्रशासन सर्वेक्षण का प्रतिवेदन'' नाम से एक प्रतिवेदन सरकार को प्रस्तुत किया। उनकी सिफारिशों में परिस्थितिकीय, मानवीय और संरचनात्मक नजरिये को पेश किया गया है। प्रतिवेदन का सार है -

1. प्रशासन में भारतीय परिस्थितियों-एकता और विविधता को दृष्टि में रखकर प्रशासन संचालित हो;
2. समस्त सेवाओं को एक विस्तृत सामन्य इकाई का रूप दिया जाऐं,
3. लोक सेवकों के प्रशिक्षण के लिए भारतीय लोक प्रशासन संस्थान की स्थापना की जाऐ,
4. संगठन और प्रणाली अर्थात् O and M की स्थापना की जाऐ, तथा
5. भारतीय प्रशासन में सूत्र एवं स्टाफ में स्पष्ट अन्तर किया जाए।

ऐपल्बी की अनुशंसा के अनुसार 1954 में O and M केन्द्रीय सरकार में स्थापित किया गया। ऐपल्बी ने अपने प्रतिवेदन में लिखा ''ओ एण्ड एम को विस्तृत तथा गंभीर नेतृत्व प्रदान करने का उत्तरदायित्व सौंपा जाए। अत्यधिक तकनीकी तथा वैज्ञानिक ढंग के स्तर पर वह कार्य माप, कार्य प्रवाह, कार्यालय प्रबन्ध, फाइलिंग प्रणाली, स्थान प्रबन्ध पर ध्यान दें। मुझे उम्मीद है कि (यह) नौकरशाही के भीतर तथा नौकरशाही और जनता के बीच लोकतांत्रिक तरीकों व रीतियों के विकास के लिए उत्तर दायी होगा।'' इस तरह ऐपल्बी की ओ एण्ड एम सम्बन्धी सिफारिशें प्रशासनिक क्षमता की दृष्टि से एक वरदान बन गयी।

4.7.3 ऐपल्बी की सिफारिशें: द्वितीय प्रतिवेदन

1953 के बाद ऐपल्बी दो बार पुनः भारत आये तथा 1956 में उन्होंने अपना दूसरा प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इसमें लोक उद्यमों की समस्याओं का अधिक गहराई से अध्ययन किया गया था। इन प्रतिवेदन के कुछ प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे-

1. नीति-निर्माण में लोक सेवकों को अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाये;
2. शक्तियों के प्रत्यायोजन (Delegatious) पर अधिक जोर दिया जाये;
3. प्रशासकीय कार्यों में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का हस्तक्षेप कम किया जाये;
4. योजना आयोग को केवल योजना बनाना चाहिए और उसका
5. प्रशासकीय कार्यों में हस्तक्षेप बन्द हो;
6. प्रत्येक मन्त्रालय के साथ कार्य-प्रबन्ध कार्यालय स्थापित किया जाये;
7. संसद को नीतियाँ लागू करने का अधिकार नहीं होना चाहिए और न ही प्रशासकीय कार्यों में हस्तक्षेप का, यह अनुचित है;

लोक सेवकों में नेतृत्व और कल्पना शक्ति का विकास होना चाहिए। इससे गतिशीलता का संचार होगा। अधिकारियों को अधिक अधिकार दिये जायें ताकि वे स्वविवेक का अधिक से अधिक प्रयोग कर सकें।

विभिन्न विभागों में समन्वय की स्थापना करने तथा योजना कार्य में तेजी लाने के लिए एक उच्च श्रेणी अधिकारी की नियुक्ति की जानी चाहिए।

4.7.4 सन्थाम समिति का प्रतिवेदन

भारतीय प्रशासन में भ्रष्टाचार एक गंभीर समस्या है। इसकी गंभीरता को सदा महसूस किया जाता रहा है, क्योंकि यह बीमारी अधिकारीतंत्र की क्षमता को क्षीण कर देती है। इसलिए 1962 में भ्रष्टाचार निवारण के लिए विद्यमान रोधकों की जाँच करने और भ्रष्टाचार विरोधी कदमों को तलाशने और मजबूत बनाने के लिए सुझाव हेतु सन्थानम की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी जिसने 1964 में अपना अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस समिति की सिफारिशों के बिन्दु इस प्रकार हैं-

1. केन्द्रीय सरकार में एक सतर्कता आयोग की स्थापना की जाये;
2. सरकारी विविधियों, नियमों और कार्यप्रणाली की निरन्तर समीक्षा और सरलीकरण हो;
3. राजनेताओं के विरूद्ध भ्रष्टाचार के अरोपों की जांच के लिए एक राष्ट्रीय संस्थान की स्थापना की जाए जिस पर जनता को विश्वास हो;
4. रिश्वत के लोभ से बचने के लिये आवास की समुचित व्यवस्था तथा पर्याप्त वेतन हो;
5. नियुक्तियों और पदोन्नति में विशेष सावधानी बरती जाये;
6. महत्वपूर्ण कार्य छोटे कर्मियों को न सौंपे जायें;
7. फाइलों का निपटारा निश्चित अवधि के भीतर किया जाये;
8. भ्रष्टाचार के मामलों में कानूनी कार्यवाही शीघ्रतापूर्ण हो;
9. सभी अधिकारियों और राजनेताओं की निजी सम्पत्ति की घोषणा हो;
10. विभिन्न राजनीतिक दलों की उद्योगपतियों द्वारा दिये गये चन्दे का ब्योरा सार्वजनिक हो;
11. लालफीताशाही पर रोक हो; विलम्ब के कारण पता लगाये जाऐं;
12. सभी प्रशासनिक निकायों में मुख्य निगरानी अधिकारी की व्यवस्था हो;
13. भ्रष्टाचार विरोधी सामाजिक संस्थाओं को सहयोग किया जाये; तथा
14. समाज में ऐसा परिवेश पैदा किया जाये जो भ्रष्ट अधिकारियों में भय पैदा करे।

गोरवाला, ऐपल्बी तथा सन्थानम के प्रतिवेदनों से अनुमान लगाया जा सकता है कि सरकारें प्रशासनिक सुधारों के बारे में कितनी गंभीर और सजगत रही हैं। लेकिन यही भी सच है कि नौकरशाही की क्षमता कहीं न कहीं दूषित सामाजिक और राजनीतिक पर्यावरण के अंदर से निकलने में असमर्थ महसूस करती है।

4.8 भारत के लिए प्रस्तावित मॉडल

अतीत में भारत की लोक-सेवा में सुधार के लिए अनेक प्रस्ताव सामने आए। यहाँ ऐसे कुछ प्रस्तावों की चर्चा की जाएगी-

1. अखिल भारतीय सेवाओं की सार्थकता बनी रहनी चाहिए। भारत एक संघात्मक राज्य है। इसके जहाँ अनेक लाभ हैं वहाँ नुकसान भी है। केन्द्र और राज्यों के द्वन्द ने राज्य सरकारों और उनके लोक सेवकों के नजरिए को तंग किया हैं। राज्य सरकारें केन्द्रीय सेवाओं की तुलना में अपनी सेवाओं पर अधिक भरोसा करती हैं और उनके अधिकारी अपने क्षेत्रों, अपनी भाषाओं तथा अपने लोगों के प्रति अधिक समर्पित नजर आते हैं। यह स्थिति देश की एकता, अखण्डता तथा सेवाओं की क्षमता को चुनौती देती है।

अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि अखिल भारतीय सेवाओं में योग्य, ईमानदार, कर्मठ और चरित्रवान प्रत्याशियों का चयन होता है। इसलिये तीन शर्तों के साथ अखिल भारतीय सेवाओं की निरन्तरता बनी रहनी चाहिए -

(क) इन सेवाओं में आने वाले 50 प्रतिशत नये प्रवेशार्थी पदांकित राज्य से बाहर के हों,

(ख) कार्यविधि प्रणाली को बनाए रखा जाए, तथा

(ग) अखिल भारतीय प्रतियोगी परीक्षा का माध्यम केवल अंग्रेजी और हिन्दी भाषा हो।

2. नरोन्हा मॉडल: अनुभवी प्रशासक नरोन्हा ने अखिल भारतीय सेवाओं में आमूल परिवर्तन का सुझाव दिया। विशेष रूप से यह सुझाव भर्ती के बारे में था। उनके सुझाव का सार था:

   (क) कनिष्ठ स्तर की राज्य लोक सेवा में तीन वर्षों तक कार्यरत् डिप्टी कलेक्टर पद के लिये सीमित प्रतियोगिता परीक्षा हो;

   (ख) आठ वर्ष के बाद सभी डिप्टी कलेक्टर आई0ए0एस0 मे प्रवेश पाने के लिए प्रतिस्पर्धा करें,

   (ग) सफल प्रत्याशी आई0ए0एस0 कहलायें तथा आई0ए0एस0 के लिए खुली प्रतियोगिता समाप्त हो; तथा

   (घ) अखिल भारतीय सेवा के लिए एकीकृत वेतनमान हों।

3. भारतीय संघीय सेवा की स्थापना: केन्द्र सरकार की लोक सेवाऐं अनेक श्रेणियों में विभाजित हैं। इनके कार्य, प्रकृति एवं क्षेत्राधिकार भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए इनमें काम करने वाले कर्मियों के वेतनमानों में भी अन्तर है। यह अन्तर आपस में प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या उत्पन्न करता है। इसलिए यह सुझाव दिया गया कि केन्द्र के लिए एकीकृत लोक सेवा स्थापित की जाये और इसे भारतीय संघ सेवा कहा जाए। उनकी परीक्षाऐं, प्रशिक्षण तथा तैनाती में भी समानता हो।

4. विकेन्द्रीकरण प्रशासन: स्थानीय स्तर पर निर्णय लेने, जनसहभागिता तथा जनता तथा प्रशासन में प्रत्यक्ष सम्पर्क एवं संचार की दृष्टि से, बलवन्त राय मेहता समिति ने विकेन्द्रीकरण की अवधारणा रखी, जिसे पंचायती राज कहा जाता है। भावना यह थी कि नौकरशाही तथा सरकारी कर्मचारी जनता के नियंत्रण में काम करें। कुछ वर्षों तक राज्यों में पंचायती राज व्यवस्था चली, लेकिन अन्ततः भारतीय राजनीति तथा नौकरशाही के सामने पंचायती राज ने घुटने टेक दिये। अब यह व्यवस्था चुनावों तक सीमित होकर रह गई है निर्वाचित संस्थाऐं लगभग अर्थहीन हो गयी हैं, क्योंकि ग्रामीण विकास में नवीन प्रौद्योगिकी निर्वाचित संस्थाओं के अधिकार से बाहर हैं।

5. आरक्षण व्यवस्था तथा प्रशासनिक क्षमता: आरक्षण के औचित्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। कमजोर तबकों के लिए यह जरूरी है। लेकिन आरक्षण की व्यवस्था तार्किक होनी चाहिए। इसका उद्देश्य आर्थिक होना चाहिए न कि राजनीतिक। प्रशासन की दृष्टि से इसके दुष्परिणाम सामने आये हैं। विशेष रूप से लोक सेवाओं में। इस व्यवस्था से योग्यता पर प्रहार हुआ है विशेष रूप से पदोन्नति में। अधिकारी भी विभाजित हुये हैं। लोक सेवाओं का वर्गीकरण वैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए। लोक सेवाओं में मूल्यों को अधिक महत्व देना चाहिए न कि सुविधाओं को।

अनुसूचित और अनुसूचित जनजाति के लोगों को प्रोन्नति में आरक्षण दिया जाए अथवा नहीं जैसे विवादास्पद मुद्दे पर अपने 5 जून, 2018 के फैसले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा: ''इन वर्गों (एस0सी0/एस0टी0) को प्रोन्नति में आरक्षण दिया जा सकता है, इस शर्त के साथ कि प्रशासनिक क्षमता पर कोई समझौता न हो।'' लेकिन सच यह है कि आरक्षण में क्षमता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा इसकी जाँच की न तो कोई यांत्रिकी है और न ही कोई मापदण्ड। भारत में लोक सेवाओं का वर्गीकरण वैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए न कि राजनीतिक रणनीति के आधार पर। प्रशासनिक क्षमता का सम्बन्ध ''मूल्यों'' से है। इस सम्बन्ध में खोसला के शब्दों का उल्लेख करना उपयुक्त होगा: ''सार्वजनिक जीवन में मूल्यों का पुनरूत्थान ही भारत को 21वीं सदी मे विकासशील देश की हैसियत से निकालकर, विकसित देश का रूप दे सकता है।''

अभ्यास प्रश्न-

1. प्रशासनिक क्षमता का सम्बन्ध है-

   क. आर्थिक विकास से ख. राजनीतिक पर्यावरण से

ग. मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य से घ. विचारधारा से

2. कौन सा कारक प्रशासनिक क्षमता का अवरोध नहीं है?

क. पश्चता या रूकावट ख. नकारात्मक प्रवृत्ति

ग. वैबेरियन मॉडल में व्यवधान घ. नैतिक मूल्य

3. कौन से तीन प्रशासनिक कारक प्रशासनिक क्षमता में अवरोध उत्पन्न करते है?

क. लाल फीताशाही ख. पदसोपानियता

ग. औपचारिकतावाद घ. अनुत्तरदायित्व

4. कौन सा घटक प्रशासनिक क्षमता से सम्बन्धित नहीं है?

क. नेतृत्व ख. प्रबन्धन

ग. नीति-निर्माण घ. राजनीतिक वफादारी

5. प्रशासनिक क्षमता का सम्बन्ध परिस्थितिकी से है। इस अवधारणा का प्रतिपादक कौन है?

क. मैक्स वेबर ख. कार्ल मार्क्स

ग.रिग्स घ. वुडरो विल्सन

4.9 सारांश

- किसी राज्य का विकास लोक प्रशासन पर टिका होता है। लोक प्रशासन की रीढ़ की हड्डी लोक प्रशासक होते हैं। लोक प्रशासकों की योग्यता का मापदण्ड उनकी क्षमता है। उनकी क्षमता का सम्बन्ध उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य से है। इस मानसिक शारीरिक स्वास्थ्य का निर्माण अनेक कारकों के माध्यम से होता है, जिनमें आनुवंशिक, प्राकृतिक, परिस्थितिकीय, शिक्षण एवं प्रशिक्षण आदि सम्मिलित हैं। यदि इन कारकों को समझ लिया जाए तो सेवी वर्ग की क्षमता में वृद्धि करना आसान हो सकता है।
- नौकरशाही की क्षमता में अनेक ऐसे अवरोध हैं जो प्रशासन पर निषेधात्मक तथा नकारात्मक प्रभाव डालते हैं। इन अवरोधों मे पश्चता, लोक सेवा में दिन प्रतिदिन बढ़ती विभिन्नता, नकारात्मक प्रवृत्ति का पनपना, वेबेरियन माडल के अनुसार प्रशासन का न चलना, प्रतिबद्ध नौकरशाही, आरक्षण नीति, स्थानान्तरण व्यवस्था, उच्च पदों की श्रेणी में वृद्धि इत्यादि ऐसे कारण हैं, जो अधिकारियों की क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं।
- नौकरशाही की क्षमता के ह्रास के अनेक प्रशासनिक कारण भी हैं। इनमें अत्यधिक शब्द जाल का प्रयोग, लाल फीताशाही, औपचारिकता, अनुत्तरदायित्वता, आत्म-हित की प्रवृत्ति इत्यादि ऐसे कारण है जो प्रशासनिक क्षमता को ज़ग लगा देते है।
- प्रशासनिक क्षमता अनेक महत्वपूर्ण घटकों पर आधारित होती है। इनमें प्रबन्धन, नेतृत्व, नीति-निर्धारण, निर्णय-निर्माण, योजना निर्माण, समन्वय, संचार तथा पर्यवेक्षण महत्वपूर्ण घटक हैं जहाँ प्रशासनिक क्षमता प्रदर्शित होती है। क्षमता की दृष्टि से प्रशासनिक चिन्तकों ने इन घटकों के महत्व पर बहुत कुछ लिखा है।
- प्रशासनिक क्षमता के वृद्धि में परिस्थितिकीय उपाय सर्वाधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं। विशेष रूप से इंग्लैण्ड की नौकरशाही का विश्लेषण परिस्थितिकीय संदर्भ में ही किया जाता है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, तकनीकी तथा संचार सम्बन्धी घटकों का नौकरशाही के स्वभाव, मनोवृत्ति और कार्यशैली पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

- भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था की दृष्टि से प्रशासनिक क्षमता की क्या चुनौतिया हैं, इनको समझ कर ही क्षमता में वृद्धि के उपाय तलाशना होंगे। प्रशासनिक कार्य प्रणाली के प्रति जन तथा सरकारी अधिकारियों के आचरण के प्रति जन असंतोष तथा सरकारी योजनाओं और कार्यक्रमों के अपेक्षित नतीजे न निकलना ऐसे तथ्य हैं जो प्रशासनिक क्षमता की दशा को प्रदर्शित करते हैं।
- विभिन्न सरकारों ने (1947 से लेकर अब तक) इस बात का प्रयास किया है कि नौकरशाही की क्षमता में वृद्धि के लिये प्रशासनिक सुधार किये जायें। ऐपल्बी, गोरवाला, सन्थानम इत्यादि को प्रशासनिक सुधारों के लिए नियुक्त किया गया। उन्होंने महत्वपूर्ण सुझाव दिये जिन पर अमल भी किया गया। लेकिन यह भी स्वीकार किया जाता है कि जब तक वर्तमान राजनीतिक आचरण नहीं सुधरेगा, प्रशासन मे सुधार असंभव है।

4.10 शब्दावली

स्वह या पश्चता- प्रशासन में कतिपय कारणों से समय-समय पर रूकावट आती है, जिसे पश्चता कहा जाता है।
धीमा होना या मंद होना- प्रशासन क्षचलता 'स्टैश' का कारण होता है। स्टैश नौकरशाही के स्वभाव में होती है।
Circumlocution या शब्द-जाल अर्थात् गोल-मोल बातें करना, उलझाना। भारतीय प्रशासन की यह विशेषता है जो अन्तः क्षमता में ह्रास का कारण बनती है।
ओ एण्ड एम इसका अर्थ है संगठन एवं प्रणाली (Organisation and Method) यह प्रशासन की सबसे अधिक प्रभावशाली व्यवस्था है, जिसकी सिफारिश ऐपल्बी ने की थी।

4.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ग, **2.** घ, **3.** क, ख और ग, **4.** घ, **5.** ग

4.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अवस्थी-अवस्थी: भारतीय प्रशासन।
2. विष्णु भगवान-विद्याभूषण: लोक प्रशासन के सिद्धान्त।
3. डी0 रवीन्द्र प्रसाद (सम्पादन): प्रशासनिक चिन्तक।
4. एम0डी0 राय: सिविल सर्वेन्टस।

4.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Warner, Richard : The Principles of Public Administration.
2. Piffner, Presthus : Public Administratoion.
3. Urwick : Elements of Administration.
4. L.D. White : Public Administration.

4.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अधिकारीतंत्र की क्षमता में वृद्धि का क्या अर्थ है?
2. नौकरशाही की क्षमता के क्या अवरोध है?
3. नौकरशाही की क्षमता के ह्रास के प्रशासनिक कारण क्या हैं?
4. प्रशासनिक क्षमता के घटकों को समझाइए।
5. प्रशासनिक क्षमता में वृद्धि के लिए ऐपल्बी की सिफारिशों का सार लिखिए।

इकाई- 5 लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण
5.3 लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा
5.4 विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता व महत्व
5.5 विकेन्द्रीकरण के आयाम
5.6 विकेन्द्रीकरण के लाभ
5.7 लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की समस्याऐं
5.8 सारांश
5.9 शब्दावली
5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.13 निबन्धात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

आज विश्व स्तर पर विकेन्द्रीकरण की सोच को विशेष महत्व दिया जा रहा है। प्रशासन एवं अभिशासन में आम जन की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था को अपनाना वर्तमान समय की बहुत बड़ी आवश्यकता है। भारत के सन्दर्भ में विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था सम्पूर्ण शासन प्रणाली के समुचित संचालन के लिए बहुत जरूरी है। भारत जैसे घनी आबादी वाले बड़े देश को, जिसकी की अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है, एक ही केन्द्र से शासित करना अत्यन्त कठिन है। अतःभारत जैसे विशाल देश में शासन प्रशासन के सफल संचालन के लिए विकेन्द्रीकरण शासन व्यवस्था को अपनाया गया है। विश्व के परिदृश्य में गणतन्त्र व्यवस्था भारतवर्ष की देन है। प्राचीन भारत में अनेक गणतन्त्र थे तथा इनकी अपनी स्वायत्ता थी। ये गणराज्य जनतान्त्रिक व्यवस्था के आधार थे। इन गणराज्यों का संचालन जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता था। गाँव इन गणराज्यों की पहली इकाई थे।

आजादी के उपरान्त भारत में प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली लागू की गई है। प्रजातन्त्र को 'जनता का जनता के लिए जनता द्वारा शासन' कहा गया है। अगर प्रजातन्त्र का अर्थ 'एक आम आदमी की प्रशासन में सहभागिता है' तो विकेन्द्रीकरण का कानून विकास की प्रथम इकाई के स्तर से ही लागू होना चाहिये। किसी भी देश के विकास के लिए यह आवश्यक है कि विकास नीतियां, योजनाएं व कार्यक्रम एक जगह केन्द्रीय स्तर पर न बनकर शासन की विभिन्न इकाइयों के स्तर पर बनें एवं वहीं से क्रियान्वित किये जाएं। यही नहीं मूल्यांकन व अनुसरण भी उन्हीं स्तरों पर किया जाये। विकेन्द्रीकरण की जब हम बात करते हैं तो उससे तात्पर्य है कि हर स्तर पर कार्यों का बंटवारा। उपलब्ध संसाधनों को आवश्यकता व प्राथमिकता के आधार पर उपयोग करने की स्वतंत्रता और साथ ही हर स्तर पर प्रत्येक इकाई को अपने संसाधन जुटाने का भी अधिकार हो अर्थात कार्यात्मक, वित्तीय एवं प्रशासनिक स्वायता। विकेन्द्रीकरण का तात्पर्य है कि निर्णय प्रक्रिया एक जगह से संचालित न होकर विभिन्न स्तरों से संचालित हो।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के विषय में जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा को समझ पायेंगे।
- विकेन्द्रीकरण के महत्व और आवश्यकता के संबंध में जान पायेंगे।
- विकेन्द्रीकरण के आयामों और विकेन्द्रीकरण के लाभों के बारे में जान पायेंगे।
- लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के मार्ग में आने वाली बांधाओं से अवगत हो पायेंगे।

5.2 लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को स्पष्ट करने से पहले इन दो शब्दों लोकतंत्र और विकेन्द्रीकरण को समझना आवश्यक है।

लोकतंत्र शासन प्रक्रिया की एक पद्धति है। शासन चलाने के अनेक प्रकारों, जैसे- राजतंत्र, तानाशाही शासन, सैनिक शासन, औपनिवेशिक शासन आदि, को विश्व के अधिकांश देशों ने त्याग दिया है। अब विश्व के अधिकांश देशों में लोकतंत्र या लोकतंत्रात्मक शासन है। लोकतंत्र को जनतंत्र भी कहा जाता है। लोकतंत्र या जनतंत्र का सीधा सा अर्थ है, लोक या जन का अर्थ है- जनता और तंत्र का अर्थ है- शासन। अर्थात जनता का शासन। लोकतंत्र में शासन या सरकार चलाने वाले राजनेता जिन्हें जनता अपने प्रतिनिधि के रूप में चुन कर सत्ता तक पहुँचाते हैं और ये राजनेता जनता की आवश्यकताओं के अनुरूप शासन चलाते हैं। लोकतंत्र की सबसे सटीक परिभाषा अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने दी। लिंकन के अनुसार, ''लोकतंत्र जनता द्वारा जनता के लिए जनता का शासन है।''

राजनीतिक विचारक जॉन स्टुर्अट मिल का कथन है कि ''लोकतंत्र, शासन या सरकार चलाने की एक मात्र ऐसी व्यवस्था है, जो सामाजिक राज्य की सभी इच्छाओं को पूर्ण संतुष्ट करती हैं, क्योंकि लोकतंत्रात्मक शासन में सभी नागरिक भागीदारी करते हैं और अपनी हिस्सेदारी निभाते हैं।'' इससे स्पष्ट है कि लोकतंत्र का मूल आधार नागरिक और शासन में उसकी सहभागिता है। वैसे भी शासन या सरकार में जब जनता की भागीदारी निरंतर होती है तो वह सकारात्मक होती है, जिसमें लोकतंत्र राजनीतिक आदर्श के बहुत निकट माना जाता है।

सामान्य भाषा में, विकेन्द्रीकरण का अर्थ है कि शासन-सत्ता को एक स्थान पर केन्द्रीत करने के बजाय उसे स्थानीय स्तरों पर विभाजित किया जाये, ताकि आम आदमी की सत्ता में भागीदारी सुनिश्चित हो सके और वह अपने हितों व आवश्यकताओं के अनुरुप शासन-संचालन में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सके। यही सत्ता के विकेन्द्रीकरण का मूल आधार है। अर्थात् आम जनता तक शासन-सत्ता की पहुँच को सुलभ बनाना ही विकेन्द्रीकरण है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें सारा कार्य एक जगह से संचालित न होकर अलग-अलग जगह व स्तर से संचालित होता है। उन कार्यों से सम्बन्धित निर्णय भी उसी स्तर पर लिये जाते हैं तथा उनसे जुड़ी समस्याओं का समाधान भी उसी स्तर पर होता है। जैसे त्रिस्तरीय पंचायतों में निर्णय लेने की प्रक्रिया ग्राम पंचायत स्तर, क्षेत्र पंचायत स्तर एवं जिला पंचायत स्तर से संचालित होती है। विकेन्द्रीकरण को निम्न रूपों मे समझा जा सकता है-

1. विकेन्द्रीकरण वह व्यवस्था है, जिसमें विभिन्न स्तरों पर सत्ता, अधिकार एवं शक्तियों का बंटवारा होता है। अर्थात केन्द्र से लेकर गांव की इकाई तक सत्ता, शक्ति व संसाधनों का बंटवारा। साथ ही हर स्तर अपनी गतिविधियों के लिए स्वयं जवाबदेह होता है। हर इकाई अपनी जगह स्वतन्त्र होते हुये केन्द्र तक एक सूत्र से जुड़ी रहती है।

2. विकेन्द्रीकरण का अर्थ है विकास हेतु नियोजन, क्रियान्वयन एवं कार्यक्रम की निगरानी में स्थानीय लोगों की विभिन्न स्तरों में भागीदारी सुनिश्चित हो। स्थानीय इकाईयों व समुदाय को ज्यादा से ज्यादा अधिकार व संसाधनों से युक्त करना ही वास्तविक विकेन्द्रीकरण करना है।
3. विकेन्द्रीकरण वह व्यवस्था है जिसमें सत्ता जनता के हाथ में हो और सरकार लोगों के विकास के लिए कार्य करे।

विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था में शासन की हर इकाई स्वायत्त होती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह इकाई अपने मनमाने ढंग से कार्य करे। अपितु प्रत्येक इकाई अपने से ऊपर की इकाई द्वारा बनाये गये नियमों व कानूनों के अर्न्तगत कार्य करती है। उदाहरण के लिए भारत में राज्य सरकारें अपने राज्य के लोगों के विकास के लिए नियम-कानून, नीतियां एंव कार्यक्रम बनाने के लिए स्वतन्त्र है, लेकिन वे केन्द्रीय संविधान के प्रावधानों के अर्न्तगत ही यह कार्य करती हैं। कोई भी राज्य सरकार स्वतन्त्र होते हुए भी संविधान के नियमों से बाहर रह कर कार्य नहीं कर सकती। विभिन्न स्तरों पर अनुशासन व सामंजस्य होना विकेन्द्रीकरण प्रक्रिया की सफलता का प्रतीक है। यहाँ यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि किसी भी स्तर पर विकेन्द्रीकरण अचानक ही नहीं हो जाता, अपितु यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो धीरे-धीरे होती है। विकेन्द्रीकरण वह प्रमुख तंत्र है जिसके माध्यम से लोकतंत्र सही मायने में प्रतिनिधिक और संवेदनशील हो जाता है। इस प्रकार विकेन्द्रीकरण को लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की जड़ कहा जाता है।

लोकतंत्र, केन्द्रीकरण में नहीं पनपता, केन्द्रीकरण में तो हिंसा का वास होता है। लोकतंत्र विकेन्द्रीकरण में आवास करता है तथा अहिंसा के माध्यम से उसकी स्थापना की जा सकती है। किसी भी देश के लोगों के द्वारा शासन की भागीदारी केवल तभी सम्भव है, जब शासन-सत्ता की शक्तियों को केन्द्र से राज्य और राज्य से जिला, ब्लाक और ग्राम स्तर में विकेन्द्रिकृत की जाती हैं, जिससे समाज में सभी वर्ग एक साथ बैठ सकते हैं और अपनी समस्याओं पर चर्चा करने के साथ ही कार्यक्रमों के कार्यान्वयन की निगरानी कर सकते हैं।

लोकतंत्र और विकेन्द्रीकरण को समझने के उपरान्त अब हम लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को जानने का प्रयास करते हैं। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को प्रशासनिक स्थानीय इकाइयों को समर्पित शासन-सत्ता की संरचना के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो स्थानीय नागरिकता के लिए सुलभ और उत्तरदायी हैं, जो पूर्ण राजनीतिक अधिकारों और स्वतंत्रता का आनंद लेते हैं।

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण से आशय यह है कि सरकार में या सरकार के कार्यों में अधिक से अधिक संख्या में जनता की भागीदारी हो। तथा शासन या सत्ता के सभी स्तरों- केन्द्र, राज्य और मुख्यत: स्थानीय स्तर पर शासन-सत्ता में भागीदारी कर अपने हितों और आवश्यकताओं के अनुरूप योजनाऐं बनाऐं और योजनाओं के कामकाज और लागु होने पर भी अपनी सक्रिय भूमिका सुनिश्चित करें। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण शासन करने की वह प्रणाली है जिसमें सत्ता केन्द्र से राज्यों में और राज्यों से जिलों में और जिलों से यह स्थानीय स्तर पर पंचायतों और नगर-निकायों तक जाती है। स्थानीय स्तर की सत्ता ही इस लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का केन्द्र बिन्दु है। जहाँ सत्ता स्थानीय स्तर पर सशक्त बनती है और स्थानीय सरकारें अपनी आवश्यकता के अनुसार निर्णय लेकर उन्हें लागू करवा सकती है। इस प्रकार लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में सत्ता का हस्तांतरण ऊपर से निचे की और अर्थात केन्द्र से होकर स्थानीय स्तर तक किया जाता है। सत्ता के हस्तांतरण का यह लाभ होता है कि स्थानीय स्तर पर जनता राजनीतिक निर्णयों को ले पाती है और उनको लागू कराने में भी सक्षम रहती है। प्रशासन के कार्यों की निगरानी करते हैं, उस पर आंकुश भी लगाते हैं और फिजुलखर्ची को रोकने में भी अपनी भूमिका निभाते हैं।

इस प्रकार अगर देखा जाए तो लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण आदर्श राजनीति का उदाहरण प्रस्तुत करती है। भारत में स्थानीय शासन यानि पंचायती राज संस्थाऐं और नगर-निकाय लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के ठोस और आदर्श उदाहरण हैं। पंचायती राज और नगर निकायों के रूप में भारत ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का एक नया स्वरूप

बनाया है, जिससे हर कोई भारतीय परिचित है। अंत में यह कहा जा सकता है कि लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया लोकतंत्र को कल्याणकारी राज्य के अधिक निकट लाती है। स्थानीय स्वशासन और लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं, क्योंकि दोनों का मूल उद्देश्य शासन के कार्यों में लोगों की अधिकतम सहभागिता और स्वायत्ता प्राप्त करना होता है।

हालांकि, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का मुख्य उद्देश्य शासन-सत्ता की संरचना के पारंपरिक दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन लाना है। इस प्रकार, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का मतलब सत्ता का विकेंद्रीकरण है। जिस स्रोत से यह शक्ति विकेन्द्रीकृत है वह लोकतांत्रिक संरचना पर आधारित है और इसलिए, इस तरह के विकेन्द्रीकरण को लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण कहा जाता है। इसके अलावा, जिस अधिकार पर सत्ता का प्रतिनिधि होना है वह भी लोकतांत्रिक ढंग से आयोजित किया जाता है।

5.3 लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण एक राजनीतिक अवधारणा है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण प्रक्रिया के माध्यम से शक्ति को ऊपर से नीचे तक फैलाया जाता है। इस तरह के विकेन्द्रीकरण का उद्देश्य प्राधिकरण और विशेषज्ञता के क्षेत्र का विस्तार करना और लोगों को राजनीति और प्रशासनिक मामलों में अधिक से अधिक भागीदारी करने में सक्षम बनाना है।

जब हम लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा की बात करते हैं तो यह समझना आवश्यक है कि विकेन्द्रीकरण का विचार करते ही हम किन-किन व्यवस्थाओं का शासन-सत्ता के स्तर पर विचार करते हैं। इन विचारों में हम सत्ता का अकेन्द्रीकरण हस्तान्तरण और प्रत्यायोजन जैसी मान्यताओं का प्रयोग करते हैं। ये सभी मान्यताऐं अलग-अलग प्रस्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा विकेन्द्रीकरण की अवधारणा को भी स्पष्ट करते हैं। अत: हम विकेन्द्रीकरण की अवधारणा के रूप में इन मान्यताओं का अध्ययन करते हैं।

1. **अकेन्द्रीकरण-** इस मान्यता के अनुसार शासन-सत्ता केन्द्र से निकल कर स्थानीय प्रशासन तक जाती है, जिसमें सत्ता भौगोलिक आधार पर हस्तांतरित होती है। इसमें केन्द्रीय प्रशासन द्वारा स्थानीय प्रशासन को सत्ता सौंपी जाती है। जैसे कोई भी जिला अधिकारी अपने जिले के हर विभाग का प्रमुख होता है, और इस व्यवस्था के तहत प्रशासनिक जिम्मेदारियों का पुन: बंटवारा होता है तथा इसमें जबाबदेही और जिम्मेदारी निचे से ऊपर की और एक चेन के रूप में आती है और अन्तत: जिला अधिकारी अपने मुख्यालय प्रशासन के प्रति जिम्मेदार होता है।
2. **प्रत्यायोजन-** प्रत्यायोजन से आशय है प्रतिनिधि की नियुक्ति, जिसमें किसी विशेष कार्य के लिए प्रतिनियुक्ति करना। विकेन्द्रीकरण की इस अवधारणा के तहत नीति-निर्माण तथा प्रबन्धकीय व्यवस्था के प्रमुख कार्यों को निपटाने के लिए कुछ ऐसे संगठनों को प्रतिनियुक्त किया जाता है जो सीधे तौर पर केन्द्रीय सरकार के मंत्रालयों की निगरानी में कार्य नहीं करते। जिन संगठनों को ये कार्य सौंपे जाते हैं, वे अपनी जिम्मेदारियां अर्द्ध-स्वतंत्र परिस्थितियों में पूर्ण करते हैं और ये भी संभव है कि वे किसी सरकारी ढांचे से भीतर रह कर कार्य न कर रहे हों। अधिकांश विकासशील देशों में यह देखा गया है कि ज्यादातर विकास योजनाऐं लोक निगमों तथा क्षेत्रीय विकास संस्थानों द्वारा क्रियान्वित की जाती हैं।
3. **हस्तांतरण-** विकेन्द्रीकरण की यह अवधारणा वैधानिक और राजनीति प्रक्रिया से जुड़ी है। जिसमें सत्ता केन्द्र सरकार से राज्य सरकारों को और राज्य सरकारों से स्थानीय स्तर की सरकारों (पंचायतों और नगर निकायों) को सौंपी (हस्तांतरित) जाती है। हस्तांतरण की इस प्रक्रिया में जिम्मेदारी/जबाबदेही दोनों ओर से होती है। एक और केन्द्र और राज्य सरकारों के प्रति जबाबदेही होती है और दूसरी ओर जनता के प्रति जबाबदेही होती है, जिन्होंने उन्हें चुना होता है।

विकेन्द्रीकरण की दो अवधारणाओं- अकेन्द्रीकरण और प्रत्यायोजन के पिछे प्रशासनिक ताना-बाना होता है, जबकि हस्तांतरण की अवधारणा वैधानिक और राजनीतिक पहलू से जुड़ी होती है।

5.4 विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता व महत्व

शासन व सत्ता में आम जन की भागीदारी सुशासन की पहली शर्त है। जनता की भागीदारी को सत्ता में सुनिश्चित करने के लिए विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था ही एक कारगर उपाय है। विश्व स्तर पर इस तथ्य को माना जा रहा है कि लोगों की सक्रिय भागीदारी के बिना किसी भी प्रकार के विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। विकेन्द्रीकृत व्यवस्था ही ऐसी व्यवस्था है जो कार्यों के समुचित संचालन व कार्यों को करने में पारदर्शिता, गुणवत्ता एवं जबाबदेही को हर स्तर पर सुनिश्चित करने के रास्ते खोलती है। प्रत्येक स्तर पर लोग अपने अधिकारों एवं शक्तियों का सही व संविधान के दायरे में रह कर प्रयोग कर सकें, इसके लिए विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता महसूस की गई है। इस व्यवस्था में अलग-अलग स्तरों पर लोग अपनी भूमिका एवं जिम्मेदारियों को समझकर उनका निर्वाहन करते हैं। प्रत्येक स्तर पर एक-दूसरे के सहयोग व उनमें आपसी सामंजस्य से हर स्तर पर उपलब्ध संसाधनों का, आवश्यकता व प्राथमिकता के आधार पर उपयोग करने की स्वतंत्रता मिलती है। साथ ही हर स्तर पर प्रत्येक इकाई को अपने संसाधन स्वयं जुटाने का भी अधिकार व जिम्मेदारी होती है। लेकिन विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह नहीं कि हर कोई अपने-अपने मनमाने ढंग से कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। कार्य करने की स्वतन्त्रता सुशासन के संचालन के लिए बनाये गये नियम-कानूनों के दायरे के अन्दर होती है।

विकेन्द्रीकरण का महत्व इसलिए भी है कि इस व्यवस्था द्वारा सामाजिक न्याय व आर्थिक विकास की योजनाऐं लोगों की सम्पूर्ण भागीदारी के साथ स्थानीय स्तर पर ही बनेंगी व स्थानीय स्तर से ही लागू होंगी। पहले केन्द्र में योजना बनती थी और वहाँ से राज्य में आती थीं व राज्य द्वारा जिला, ब्लाक व गांव में आती थी। लेकिन भारत में अब नये पंचायती राज में विकेन्द्रीकरण की पूर्ण व्यवस्था की गई है। जिसके अनुसार ग्राम स्तर पर योजना बनेगी व ब्लाक, जिला व राज्य से होती हुई केन्द्र तक पहुँचेगी। योजनाओं का क्रियान्वयन भी ग्राम स्तर पर स्थानीय शासन द्वारा होगा। इस प्रकार विकेन्द्रीकरण के माध्यम से सत्ता व शक्ति एक केन्द्र में न रहकर विभिन्न स्तरों पर विभाजित हो गई है। जिसके माध्यम से स्थानीय व ग्रामीण लोगों को प्रशासन में पूर्ण भागेदारी निभाने का अधिकार प्राप्त हो गया है।

5.5 विकेन्द्रीकरण के आयाम

विकेन्द्रीकरण को किन माध्यमों से आगे बढ़ाया जा सकता है या उसका विस्तार किया जा सकता है, इसे जानने के लिए इसके तीन आयामों की चर्चा करते हैं-

1. **कार्यात्मक स्वायतता-** इसका अर्थ है, सत्ता के विभिन्न स्तरों पर कार्यों का बंटवारा। अर्थात हर स्तर अपने स्तर पर कार्यों से सम्बन्धित जिम्मदारियों के लिए जवाब देह होगा।
2. **वित्तीय स्वायतता-** इस के अर्न्तगत हर स्तर की इकाई को उपलब्ध संसाधनों को आवश्यकतानुसार खर्च करने व अपने संसाधन स्वयं जुटाने के अधिकार होता है।
3. **प्रशासनिक स्वायतता-** प्रशासनिक स्वायतता का अर्थ है, हर स्तर पर आवश्यक प्रशासनिक व्यवस्था हो तथा इससे जुड़े अधिकारी/कमर्चारी जनप्रतिनिधियों के प्रति जवाबदेह हों।

5.6 विकेन्द्रीकरण के लाभ

विकेन्द्रीकरण के लाभों को निचे दिये बताये गये बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं-

1. स्थानीय स्तर पर स्थानीय समस्याओं को समझकर उनका समाधान आसानी से किया जा सकता है। स्थानीय स्तर पर निर्णय लेने से कार्य तेजी से होंगे। कार्यों के क्रियान्वयन में अनावश्यक बिलम्ब नहीं होगा। साथ ही विकास कार्यों के लिए उपलब्ध धनराशि का उपयोग स्थानीय स्तर पर स्थानीय लोगों की निगरानी में होगा। इससे पैसे का दुरूपयोग कम होगा।
2. विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था से विकास योजनाओं के नियोजन एवं क्रियान्वयन में स्थानीय लोगों की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित होती है। विकास कार्यों की प्राथमिकता स्थानीय स्तर पर स्थानीय लोगों द्वारा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप तय की जायेगी व विकास कार्यक्रम ऊपर से थोपने के बजाय स्थानीय स्तर पर तय किये जायेंगे।
3. विकास कार्यों का स्थानीय स्तर पर नियोजन एवं क्रियान्वयन किये जाने से उनका प्रभावी निरीक्षण होगा। नियोजन में स्थानीय समुदाय की भागीदारी होने से कार्यों के क्रियान्वयन व निगरानी में भी उनकी सक्रिय भागीदारी बढ़ेगी। इससे कार्य समय पर पूरे होंगे तथा उनकी गुणवत्ता में सुधार होगा।
4. स्थानीय स्तर पर स्थानीय साधनों के उपयोग से अपना कोष विकसित होने व कार्य करने से कार्य की लागत भी कम आयेगी।

विकेन्द्रीकृत की सोच स्थानीय स्तर पर लोकतान्त्रिक तरीके से चयनित सरकार पर जोर देती है एवं यह भी सुनिश्चित करती है कि स्थानीय इकाई को सभी अधिकार, शक्तियां व संसाधन प्राप्त हों। ताकि वे स्वतन्त्र रूप से कार्य कर सकें व अपने क्षेत्र की आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं के अनुरूप विकास कर सकें।

5.7 लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की समस्याऐं

विश्व के देशों को दो भागों में बांटा गया है- विकसित देश और विकासशील देश। विकसित देशों के श्रेणी में विश्व के वो देश आते हैं, जो कभी गुलाम या उपनिवेश नहीं रहे या जिन्होंने विश्व के देशों को अपना उपनिवेश बना कर बहुत आर्थिक उन्नति की या वो देश जिन्होंने बहुत पहले गुलामी से आजादी पा कर राजनीजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तौर पर बहुत तरक्की कर ली। इन देशों को हम पश्चिम के देश और यूरोपीय देशों के नाम से जानते हैं। वहीं दूसरी और विकासशाली देश हैं, जो बहुत लम्बे समय तक गुलाम रहे, उपनिवेश बने रहे और एक लम्बे संघर्ष के उपरान्त उन्हें आजादी प्राप्त हुई, जिन्हें तीसरी दुनियां के देश भी कहा जाता है। अधिकतर विकासशील देश दुसरे विश्व युद्ध के उपरान्त और 50 या 60 के दशक में आजाद हुए। लेकिन ये सभी देश गुलामी के कारण आर्थिक तौर पर बहुत पिछड़ गये थे। विकासशाली देशों ने अपनी आजादी के उपरान्त लोकतंत्रीय शासन प्रणाली को अपनाया। परन्तु अपने धार्मिक, सांस्कृतिक, भाषाई और क्षेत्रीय विविधता के कारण इन देशों में लोकतंत्र को मजबुती के साथ स्थापित करने में अनेक कठिनाईयां आयी जो वर्तमान समय तक चली आ रही हैं।

आम जन की शासन-सत्ता में भागीदारी के लिए सत्ता के केन्द्रीकरण के स्थान पर विकेन्द्रीकरण को अनपाया गया। लेकिन विकासशील देशों में अनेक ऐसी समस्याऐं हैं जों लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की सफलता के मार्ग में अनेक बांधाऐं पैदा कर रही हैं। आईये इनका अध्ययन करते हैं-

1. **समन्वय की समस्या-** लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का मुख्य ध्येये है, शासन की पहुँच को निचले स्तर तक पहुँचाना और स्थानीय स्तर पर स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थानीय संस्थाओं को वैधानिक शक्ति प्राप्त हो, ताकि स्थानीय स्तर पर लोग विकास की योजनाऐं बना सके और उसके मार्ग में आने वाली बांधाओं के समाधान के लिए रास्ता खोज सकें। इसके लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय स्तर की इन इकाईयों में आपसी समन्वय या तालमेल हो। अगर समन्वय की कमी रहेगी तो विकास कार्यों के लिए किये गये सभी मानवीय प्रयास, साधन और धन की हानि होगी। इसलिए यह आवश्यक है

कि इन इकाईयों के बीच समन्वय स्थापित हो और बिना किसी दोहराव और संघर्ष के विकास कार्य आगे बढ सकें।

2. **व्यवधान की समस्या-** विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के सुचारू संचालन के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय प्रशासन को अपनी कार्यशौली में परिवर्तन करते हुए यह समझना होगा कि उसका उद्देश्य प्रशासनिक कार्यों में सहायता पहुँचाना और सलाह देना है न कि किसी प्रकार व्यवधान उत्पन्न करना। जब केन्द्रीय प्रशासन की यह सोच होगी कि उसका काम नियंत्रण करना है इससे केन्द्र से लेकर स्थानीय इकाईयों के बीच विवाद पैदा होगा और प्रशासनिक कार्यों में व्यवधान उत्पन्न होगा।
3. **आदेश या संदेश की समस्या-** प्रशासनिक स्तर पर विभिन्न इकाईयों के बीच एक स्थान से दूसरे स्थान पर जो संदेश या आदेश भेजे जाते हैं, वे उपर के प्रशासनिक इकाईयों से निचे के प्रशासनिक इकाईयों को भेजे जाते हैं। ये व्यवस्था पूरी तरह से एकतरफा है और ये अधिकांश विकासशील देशों के प्रशासन की एक मुख्य समस्या है। चूंकि इन देशों में निचे के प्रशासनिक इकाईयों से उपर की प्रशासनिक इकाईयों को संदेश भेजने की कोई स्थाई व्यवस्था नहीं पायी जाती है जिस कारण आवश्यकता के अनुरूप नीतियां नहीं बन पाती हैं और नीतियां अपने लक्ष्य से परे होती हैं। जिसके चलते लालफिताशाही और कार्यों में दोहराव की समस्या पैदा हो जाती है।
4. **नेतृत्व प्रणाली एक समस्या-** विकास के कार्यों नेतृत्व प्रणाली भी एक महत्वपूर्ण भूमिका में होती है। विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में नेतृत्व को एक सबसे बड़ी समस्या के रूप में देखा गया। विकासशील देशों में और खासकर भारत में नेतृत्व विकास के कार्यों में एक बड़ी भूमिका में होता है और उसकी यह भूमिका कई बार विकास के कार्यों में बहुत बड़ी बांधा उत्पन्न करती है। इसके पिछे कारण ये है कि नौकरशाही किस्म का यह नेतृत्व बहुत शक्तिशाली है और अपने राजनीतिक स्वार्थों ने लिए यह नेतृत्व अधिकांश अवसरों पर विकास प्रक्रिया को प्रभावित करता है।

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में इन समस्याओं के समाधान का उचित और निर्णायक मार्ग खोजना होगा, तभी लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को केन्द्रीय प्रशासन से लेकर स्थानीय प्रशासन की इकाईयों तक विकास कार्यों के निर्माण, देख-रेख और नियंत्रण करने की स्वायत्ता प्राप्त होगी।

अभ्यास प्रश्न-

1. विकेन्द्रीकरण वह व्यवस्था है जिसमें विभिन्न स्तरों पर सत्ता, अधिकार एवं शक्तियों का बँटवारा होता है। सत्य/असत्य
2. शासन सत्ता में आम जन की भागीदारी..... की पहली शर्त है ।
3. ''जनता द्वारा जनता के लिए जनता का शासन'' लोकतंत्र की यह परिभाषा किसने दी?

5.8 सारांश

विकेन्द्रीकरण की अवधारणा कोई नई अवधारणा नहीं है। यह किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। शासन व्यवस्था के सफल संचालन और आम नागरिक की शासन-प्रणाली में भागीदारी के लिए सत्ता विकेन्द्रीकरण एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। विकेन्द्रीकरण के अध्ययन से यह बात निकल कर आती है कि शक्ति या सत्ता का विकेन्द्रीकरण प्रशासन के मुकाबले राजनीतिक अधिक होना चाहिए। प्रशासनिक तौर पर आप सत्ता को निचले स्तर पर पहुँचा दें, उसमें सत्ता की शक्ति तो रहती है, लेकिन विकेन्द्रीकरण नहीं रह जाता। जब तक जनता की भागीदारी सुनिश्चित नहीं होगी यह सत्ता के स्तर पर दिखावटी विकेन्द्रीकरण होगा। प्रशासन के हर स्तर पर राजनीति का नियंत्रण और निगरानी होनी चाहिए, क्योंकि राजनीतिक नेतृत्व के माध्यम से ही जनता सत्ता से जुड़ी

रह सकती है। साथ ही सत्ता से जुड़े राजनीतिज्ञों को भी विकेन्द्रीकरण के उद्देश्यों और प्रक्रिया पर विश्वास होना चाहिए।

5.9 शब्दावली

विकेन्द्रीकरण- एक जगह पर केन्द्रित न होना/एक स्थान पर ही एकत्र न होना, विश्व परिदृष्य- विश्व के संदर्भ में/पूरी दुनियां में, सामंजस्य- समान भाव/समता, सुशासन- अच्छा शासन/जन- प्रिय शासन

5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सुशासन, **3.** अब्राहम लिंकन

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पंचायत वार्ता, (जुलाई-सितम्बर 1999), सहभागी शिक्षण केन्द्र, लखनऊ।
2. कुछ आम सवाल- यहाँ मिलेंगे उनके जवाब, नगरीय स्वशासन, 2005, संसर्ग पटना एवं प्रिया नई दिल्ली।

5.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारत में पंचायती राज- के0 के0शर्मा।
2. भारत में स्थानीय शासन- एस0 आर0 माहेश्वरी।
3. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

5.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. विकेन्द्रीकरण से आप क्या समझते हैं? लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करें।
2. विकेन्द्रीकरण के आवश्यकता और महत्व को स्पष्ट करते हुए विकेन्द्रीकरण की समस्याओं पर चर्चा करें।
3. लोकतंत्र में विकेन्द्रीकरण के महत्व को स्पष्ट करें।

इकाई- 6 पंचायती राज का उद्-भव, भूमिका और उभरते प्रतिमान

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 भारत में पंचायती राज के उद्-भव
    6.2.1 प्राचीन काल में भारत में पंचायती राज
    6.2.3 मध्य काल में भारत में पंचायती राज
    6.2.3 स्वतंत्रता पूर्व भारत में पंचायती राज
    6.2.4 स्वतंत्रता पश्चात भारत में पंचायती राज का उद्-भव
6.3 पंचायती राज की भूमिका
6.4 पंचायती राज के उभरते प्रतिमान
    6.4.1 आन्ध्र प्रदेश का प्रतिमान
    6.4.2 महाराष्ट्र का प्रतिमान
    6.4.3 अरूणांचल प्रदेश का प्रतिमान
6.5 सारांश
6.6 शब्दावली
6.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.10 निबन्धात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

पंचायती राज का इतिहास कोई नया नहीं अपितु यह आदिकाल से हमारी पुरातन धरोहर है। भारतीय ग्रामीण व्यवस्था में सामुदायिकता की भावना प्राचीन काल से विद्यमान रही है। इसी सामुदायिकता व परम्परागत संगठन के आधार पर पंचायत व्यवस्था का जन्म हुआ। इसीलिए हमारे देश में पंचायतों की व्यवस्था भी सदियों से चली आ रही है। भारतीय संस्कृति के विकास के साथ पंचायती व्यवस्था का जन्म और विकास हुआ। पंचायत शब्द पंच+आयत से बना है। पंच का अर्थ है समुदाय या संस्था तथा आयत का अर्थ है विकास या विस्तार। अतः सामूहिक रूप से गांव का विकास ही पंचायत का वास्तविक अर्थ है। ये संस्थाऐं हमारे समाज की बुनियादी संस्थाऐं हैं और किसी ना किसी रूप में ये संस्थाऐं हमारी संस्कृति व शासन प्रणाली का अभिन्न हिस्सा रही हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के विकास, प्रशासन व न्याय की जिम्मेदारी इन्हीं संस्थाओं की थी। राजा-महाराजा भी स्थानीय स्तर पर काम काज के संचालन हेतु इन्हीं संस्थाओं पर निर्भर रहते थे। स्थानीय स्तर पर सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में ना रह कर सामूहिक रहती थी, इसीलिए इन्हें गणतन्त्र की स्थानीय इकाईयों के रूप में मान-सम्मान दिया जाता था। ग्राम पंचायत ग्रामीण क्षेत्रों में शासन प्रबन्ध, शान्ति और सुरक्षा की एकमात्र संस्थाऐं रही हैं। डाक्टर राधाकुमुन्द मुखर्जी ने लिखा है कि ये समस्त जनता की सामान्य सभा के रूप में अपने सदस्यों के समान अधिकारों, स्वतंत्रताओं के लिए निर्मित होती हैं ताकि सब में समानता, स्वतंत्रता तथा बन्धुत्व का विचार दृढ़ रहे। अतः यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में पंचायती राज का गौरवशाली अतीत रहा है।

हम 90 के दशक में भारत सरकार द्वारा पंचायतों को नया स्वरूप देने के उद्देश्य से भारतीय संविधान में किये गये 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के बारे में पढ़ेंगे। प्राचीन समय में भी देश के गांवों का पूरा कामकाज पंचायतें ही चलाती थी। लोग इस संस्था को गहरी आस्था व सम्मान की की दृष्टि से देखते थे, इसलिये इसका निर्णय भी सब को मान्य होता था। इसी धारणा को ध्यान में रख कर व सामान्य व्यक्ति की शासन में भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए पंचायतों को संवैधानिक स्थान देने की आवश्यकता हुई। जिसके लिए संविधान का 73वां संविधान संशोधन किया गया। जिसका विस्तृत अध्ययन आप इस अध्याय में करेंगे।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- पंचायती राज के उद्-भव के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- पंचायती राज के विकास के लिए किये गये प्रयासों के बारे में जान पायेंगे।
- स्थानीय स्वशासन में पंचायतों की भूमिका से अवगत हो पायेंगे।
- पंचायती राज के उभरते प्रतिमानों के सन्दर्भ में जान पायेंगे।

6.2 भारत में पंचायती राज का उद्-भव

भारत में पंचायती राज के उद्-भव एवं विकास को समझने के लिए भारत में प्राचीन काल से लेकर पंचायतों को संवैधानिक प्रदान कराने के लिए जो-जो प्रयास किए गये उनका अध्ययन करते हैं-

6.2.1 प्राचीन काल में भारत में पंचायती राज

प्राचीन काल में पंचायतों का स्वरूप कुछ और था। यद्यपि इन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्राप्त नहीं था, लेकिन गांवों से जुड़े विकास व न्याय सम्बन्धित निर्णयों के लिए ये संस्थाऐं पूर्ण रूप से जिम्मेदार थीं। प्राचीन काल में गांवों में पंच-परमेश्वर की प्रणाली मौजूद थी। गांव में सर्वसहमति से चुने गये पाँच गणमान्य व बुद्धिमान व्यक्तियों को गांव में न्याय व्यवस्था बनाने व गांव के विकास हेतु निर्णय लेने का अधिकार था। उन्हें तो पंच-परमेश्वर तक कहा जाता था। पंच परमेश्वर द्वारा न्याय को सरल और सुलभ बनाने की प्रथा काफी मजबूत थी। उस समय ये पंच एक संस्था के रूप में कार्य करते थे। गांव के झगड़े, गांव की व्यवस्थायें सुधारना जैसे मुख्य कार्य पंच परमेश्वर संस्था किया करती थी। उसके कायदे कानून लिखित नहीं होते थे फिर भी उनका प्रभाव समाज पर ज्यादा होता था। पंचों के फैसले के खिलाफ जाने की कोई सोच भी नहीं सकता था। पंचों का सम्मान बहुत था व उनके पास समाज का भरोसा और ताकत भी थी। लोग पंचों के प्रति बड़ा विश्वास रखते थे और उनका निर्णय सहज स्वीकार कर लेते थे। पंच परमेश्वर भी बिना किसी पक्षपात के कोई निर्णय किया करती थी। मुंशी प्रेमचन्द ने अपनी कहानी पंच परमेश्वर द्वारा प्राचीन काल में स्थापित इस पंच प्रणाली को काफी सरल तरीके से समझाया है। प्राचीन काल में जातिगत व कबाइली पंचायतों का भी जिक्र भी मिलता है। इन पंचायतों के प्रमुख गांव के विद्वान व कबीले के मुखिया हुआ करते थे। इन पंचायतों में कोई भी निर्णय लेने हेतु तब तक विचार-विमर्श किया जाता था, जब तक कि सर्वसहमति से निर्णय ना हो जाये।

राजा-महाराजा काल में स्थानीय स्वशासन को काफी महत्व दिया गया। उनके द्वारा भी जनता को सत्ता सौंपने की प्रथा को अपनाया गया। भारत जैसे विशाल देश को एक केन्द्र से शासित करना राजाओं व सम्राटों के लिए सम्भव नहीं था। अतः राज्य को सूबों, जनपद, ग्राम समितियों अथवा ग्राम सभाओं में बांटा गया। वेदों, बौद्ध ग्रन्थों, जातक कथाओं, उपनिषदों आदि में इस व्यवस्था के रूप में पंचायतों के आस्तित्व के पूर्ण साक्ष्य मिलते हैं। मनुस्मृति तथा

महाभारत के शांति-पर्व में ग्राम सभाओं का उल्लेख है। रामायण में इसका वर्णन जनपदों के नाम से आता है। महाभारत काल में भी इन संस्थानों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वैदिक कालीन तथा उत्तर-वैदिक कालीन इतिहास के अवलोकन में यह बात स्पष्ट हो गई है कि प्राचीन भारत का प्रत्येक ग्राम एक छोटा सा स्वायत्त राज्य था। इस प्रकार के कई छोटे-छोटे गांव व छोटे-छोटे प्रादेशिक संघ मिलकर बड़े संघ बन जाते थे। संघ पूर्णतः स्वावलम्बी थे तथा एक-दूसरे से बड़ी अच्छी तरह जुड़े हुए तथा सम्बन्धित थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी गांव के छोटे-छोटे गणराज्य की बात कही गई है। सर चार्ल्स मेटकाफ ने तो पंचायतों के लिये गांवों को छोटे-छोटे गणतन्त्र कहा था जो स्वयं में आत्मनिर्भर थे। बौद्ध व मौर्य काल के समय पंचायतों के आस्तित्व की बात कही गई है। बौद्ध काल के संघों की कार्य-पद्धति ग्राम राज्य की प्रथा को दर्शाती है। बौद्ध संघों के शासन की प्रणाली वस्तुतः भारत की ग्राम पंचायतों तथा ग्राम संघों से ही ली गई थी। गुप्त काल में भी ग्राम समितियां पंचायतों के रूप में कार्य करती थीं। चन्द्रगुप्त के दरबार में रहने वाले यूनानी राजदूत मैगस्थनीज के वृतान्त से उसके बारे में काफी सामग्री मिलती है। मैगस्थनीज के वृतान्त से उस समय के नगर प्रशासन तथा ग्राम प्रशासन पर खासा प्रकाश पड़ता है। नगरों का प्रशासन भी पंचायती प्रणाली से ही होता था और पाटलिपुत्र का प्रशासन उसकी सफलता का सूचक है। मैगस्थनीज के अनुसार, नगर प्रशासन भी ग्राम प्रशासन की तरह ही होता था। नगर का शासन एक निर्वाचित संस्था के हाथ में होता था, जिसमें 30 सदस्य होते थे। सदस्य 6 समितियों में विभक्त होते थे। प्रत्येक समिति अलग-अलग विषयों का प्रबन्धन करती थी। कुछ विषय अवश्य ऐसे थे जो सीधी राजकीय नियंत्रण में होते थे।

प्राचीन काल में राजा लोग महत्वपूर्ण निर्णय लेते समय इन पंचायतों से पूर्ण विचार-विमर्श करते थे। स्थानीय स्वशासन की ये संस्थाऐं स्थानीय स्तर पर अपना शासन खुद चलाती थी। लोग अपने विकास के बारे में खुद सोचते थे, अपनी समस्याऐं स्वयं हल करते थे एवं अपने निर्णय स्वयं लेते थे। वास्तव में जिस स्वशासन की बात हम आज कर रहे हैं, असली स्वशासन वही था। यह कह सकते हैं कि हमारे गांव का काम गांव में और गांव का राज गांव में था। पंचायतें हमारे गांव समाज की ताकत थीं।

ग्रामों के इन संगठनों की सफलता का रहस्य केवल यह था कि ग्रामीण अपने अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों की अधिक चिंता करते थे। इस तरह भारत के ग्रामों के संगठन की परम्परा उत्पन्न हुई, पनपी और इसमें दीर्घकाल तक सफलता से देश के ग्रामीणों को समृद्ध, सुसम्पन्न तथा आत्मनिर्भर बनाया। पंचायतों के कारण ही काफी समय तक विदेशी अपना आर्थिक प्रभुत्व जमाने में असमर्थ रहे।

6.2.2 मध्यकाल में भारत में पंचायती राज

मध्य काल में पंचायतों के विकास पर खास ध्यान नहीं दिया गया। इस दौरान समय-समय पर विदेशियों के आक्रमण भारत में हुए। मुगलों के भारत में आधिपत्य के साथ ही शासन प्रणाली में नकारात्मक बदलाव आये। लोगों की अपनी बनाई हुई व्यवस्थाऐं चरमराकर धराशायी हो गई। समस्त सत्ता व शक्ति बादशाह व उसके खास कर्मचारियों के हाथों में केन्द्रित हो गयी। यद्यापि मुगल बादशाह अकबर द्वारा स्थानीय स्वशासन को महत्व दिया गया और उस समय ग्राम स्तरीय समस्त कार्य पंचायतों द्वारा ही किया जाता था। अन्य शासकों के शासनकाल में पंचायत व्यवस्था का धीरे-धीरे विघटन का दौर शुरू हुआ जो ब्रिटिश काल के दौरान भी अंग्रेजों की केन्द्रीकरण की नीति के कारण चलता रहा। पंच-परमेश्वर प्रथा की अवहेलना से पंचायतों व स्थानीय स्वशासन को गहरा झटका लगा। जिसके परिणाम स्वरूप जो छोटे-छोटे विवाद पहले गांव में ही सुलझ जाया करते थे अब वह दबाये जाने लगे व सदियों से चली आ रही स्थानीय स्तर पर विवाद निपटाने की प्रथा का स्थान कोर्ट कचहरी ने लेना शुरू किया। जिन प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा व उपयोग गांव वाले स्वयं करते थे, वे सब अंग्रेजी शासन के अर्न्तगत आ गये और उनका प्रबन्धन भी सरकार के हाथों चला गया। स्थानीय लोगों के अधिकार समाप्त हो गये।

कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि स्थानीय स्वशासन की परम्परा प्राचीन काल में काफी मजबूत थी। स्थानीय स्वशासन की संस्थाऐं जन-समुदाय की आवाज हुआ करती थी। वर्तमान की पंचायत व्यवस्था का मूल आधार हमारी पुरानी सामुदायिक व्यवस्था ही है। यद्यपि मध्यकाल व ब्रिटिश काल मे पंचायती राज व्यवस्था लडखड़ा गई थी, लेकिन स्वतन्त्रता के पश्चात स्थानीय स्वशासन को मजबूत बनाने के लिए पुनः प्रयास शुरू हुए और पंचायती राज व्यवस्था भारत में पुनः स्थापित की गई। जिसके बारे में आप विस्तार से पढ़ेंगे।

6.2.3 स्वतंत्रता से पूर्व भारत में पंचायती राज

स्वतन्त्रता पूर्व पंचायतों की मजबूती व सुदृढ़ीकरण (Strengthening) हेतु विशेष प्रयास नहीं हुए इसके विपरीत पंचायती राज व्यवस्था लड़खड़ाती रही। मध्य काल में मुस्लिम राजाओं का शासन भारत के विभिन्न हिस्सों में फैल गया। यद्यपि स्थानीय शासन की संस्थाओं की मजबूती के लिए विशेष प्रयास नहीं किये गये, परन्तु मुस्लिम शासन ने अपने हितों में पंचायतों का काफी उपयोग किया। जिसके फलस्वरूप पंचायतों के मूल स्वरूप को धक्का लगा और वे केन्द्र के हाथों की कठपुतली बन गई। सम्राट अकबर के समय स्थानीय स्वशासन को पुनः मान्यता मिली। उस काल में स्थानीय स्वशासन की इकाइयां कार्यशील बनी। स्थानीय स्तर पर शासन के सारे कार्य पंचायतें ही करती थीं और शासन उनके महत्व को पूर्णतः स्वीकार करता था। लेकिन मुस्लिम काल के इतिहास को अगर समग्र रूप में देखा जाए तो इस काल में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को मजबूती नहीं मिल सकी।

ब्रिटिश काल के दौरान भी प्राचीन पंचायत व्यवस्था लड़खड़ाती रही। अंग्रजों शासन काल में सत्ता का केन्द्रीकरण हो गया और दिल्ली सरकार पूरे भारत पर शासन करने लगी। केन्द्रीकरण की नीति के तहत अंग्रेज तो पूरी सत्ता अपने कब्जे में करके एक-क्षत्र राज चाहते थे। भारत में विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था उन्हें अपने मनसूबों को पूरा करने में एक रुकावट लगी। इसलिये अंग्रेजों ने हमारी सदियों से चली आ रही स्थानीय स्वशासन की परम्परा व स्थानीय समुदाय की ताकत को तहस-नहस कर शासन की अपनी व्यवस्था लागू की। जिसमें छोट-छोटे सूबे तथा स्थानीय स्वशासन की संस्थाऐं कमजोर बना दी गई या पूरी तरह समाप्त कर दी गई। धीरे-धीरे सब कुछ अंग्रेजी सरकार के अधीन होता गया। सरकार की व्यवस्था मजबूत होती गई और समाज कमजोर होता गया। परिणाम यह हुआ कि यहाँ प्रशासन का परम्परागत रूप करीब-करीब समाप्त प्राय हो गया और पंचायतों का महत्व काफी घट गया। अंग्रेजी राज की बढ़ती ताकत व प्रभाव से आम आदमी दबाव में था। समाज में असंतोष बढ़ने लगा, जिसके कारण सन् 1909 में ब्रिटिश सरकार द्वारा एक विकेन्द्रीकरण कमीशन की नियुक्ति की गई। सन् 1919 में 'मांटेस्क्यू चेम्सफोर्स सुधार' के तहत एक अधिनियम पारित करके पंचायतों को फिर से स्थापित करने का काम प्रान्तीय शासन पर छोड़ दिया। अंग्रेजों की नियत तब उजागर हुई, जब एक तरफ पंचायतों को फिर से स्थापित करने की बात कही और दूसरी तरफ गांव वालों से नमक तक बनाने का अधिकार छुड़ा लिया। इसी क्रम में सन् 1935 में लार्ड वैलिंग्टन के समय भी पंचायतों के विकास की ओर थोड़ा बहुत ध्यान दिया गया, लेकिन कुल मिलाकर ब्रिटिशकाल में पंचायतों को फलने-फूलने के अवसर कम ही मिले।

6.2.4 स्वतन्त्रता के बाद भारत में पंचायती राज

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात पंचायतों के पूर्ण विकास के लिये प्रयत्न शुरू हुए। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी स्वराज और स्वावलम्बन के लिये पंचायती राज के प्रबलतम समर्थक थे। गांधी जी ने कहा था- ''सच्चा स्वराज सिर्फ चंद लोगों के हाथ में सत्ता आ जाने से नहीं, बल्कि इसके लिये सभी हाथों में क्षमता आने से आयेगा। केन्द्र में बैठे 20 व्यक्ति सच्चे लोकतन्त्र को नहीं चला सकते। इसको चलाने के लिये निचले स्तर पर प्रत्येक गांव के लोगों को शामिल करना पड़ेगा।'' गांधी जी की ही पहल पर संविधान में अनुच्छेद- 40 शामिल किया गया। जिसमें यह कहा गया कि राज्य, ग्राम पंचायतों को सुदृढ़ (Strengthen) करने हेतु कदम उठायेगा तथा पंचायतों को प्रशासन की

इकाई के रूप में कार्य करने के लिये आवश्यक अधिकार प्रदान करेगा। यह अनुच्छेद राज्य का नीति-निर्देशक सिद्धान्त बना दिया गया। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्र के विकास के लिये विभिन्न कमीशन नियुक्त किये गये, जिन्होंने पंचायती राज व्यवस्था को पुनर्जीवित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया।

भारत में सन् 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम स्थापित किये गये। किन्तु प्रारम्भ में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को कोई महत्वपूर्ण सफलता नहीं मिल सकी, इसका मुख्य कारण जनता का इसमें कोई सहयोग व रुचि नहीं थी। सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को सरकारी कामों के रुप में देखा गया और गॉववासी अपने उत्थान के लिए स्वयं प्रयत्न करने के स्थान पर सरकार पर निर्भर रहने लगे। इस कार्यक्रम के सूत्रधार यह आशा करते थे कि जनता इसमें आगे आये और दूसरी ओर उनका विश्वास था कि सरकारी कार्यवाही से ही यह कार्यक्रम सफल हो सकता है। कार्यक्रम जनता ने चलाना था, लेकिन वे बनाये उपर से जाते थे। जिस कारण इन कार्यक्रमों में लोक कल्याण के कार्य तो हुए, लेकिन लोगों की भागीदारी इनमें नगण्य थी। ये कार्यक्रम लोगों के कार्यक्रम होने के बजाय सरकार के कार्यक्रम बनकर रह गये।

6.3 भारत में पंचायती राज की भूमिका

भारत में पंचायती राज के उद्-भव एवं विकास की चर्चा करने के उपरान्त पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका को जानना आवश्यक हो जाता है। संवैधानिक स्थिति प्राप्त करने के पश्चात पंचायती राज संस्थाऐं लोकतंत्र के एक मजबूत आधार स्तम्भ बन गयी और स्थानीय स्वशासन और सत्ता विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में इसे महत्वपूर्ण माना जाने लगा। पंचायती राज संस्थाऐं एक एक संवैधानिक, राजनीतिक और प्रशासनिक संस्था से भी अधिक लोगों का शासन-सत्ता में भागीदारी का माध्यम बना। भारत के सभी राज्यों ने पंचायती राज प्रणाली को स्वीकार कर उसे लागू कर दिया है। अत: इसकी भूमिका का अध्ययन आवश्यक है।

1. **एक राजनीतिक चेतना के रूप में भूमिका-** स्थानीय स्वशासन और लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में पंचायतों के माध्यम से आम जनता राजनीति में सक्रिय भूमिका निभा सकती है और भागीदारी कर सकती है। आम जन को पंचायतों की राजनीति में भागीदारी करने से उनमें राजनीति के प्रति समझ और राजनीतिक चेतना आ जाती है, इससे बहुत से लोगों में स्थानीय स्तर पर नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता आ जाती है। नेतृत्व प्रदान करने की यह क्षमता ही पंचायती राज की सफलता और असफलता का निर्धारण करती है। पंचायती राज संस्थानों ने ही आम नागरिक को उत्तरदायित्व पूर्ण राजनीतिक जीवन जीने की शिक्षा और शक्ति प्रदान की है। पंचायतों के स्तर पर तैयार नेता राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर एक सफल राजनेता की भूमिका निभा सकते हैं। ये नेता जमीन से जुड़े और जमीनी वास्तविकता को जानने और समझने वाले नेता होते हैं। पंचायतों का शासन वहाँ पर एक शक्तिशाली शासन बन के उभरा है, जहाँ पर जातीय और स्थानीय स्वार्थ की राजनीति प्रभावी है। लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था में पंचायतों के माध्यम से नेतृत्व की नई पीढ़ी ने अपने अनुभवों से उच्च स्तर की राजनीति की क्षमता में वृद्धि की है। इस पीढ़ी ने राजनीति में अभिजात वर्ग के आधिपत्य को समाप्त करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ये सब राजनीतिक चेतना का ही परिणाम है।
2. **कार्यों के क्रियान्वयन में भूमिका-** पंचायती राज संस्थाऐं स्थानीय स्वशासन की एक इकाई के रूप में किस सीमा तक कार्य करती हैं, यह जानने के लिए इसके द्वारा किये गये कार्यों का अवलोकन आवश्यक है। इन कार्यों में ग्रावं के भीतर साफ-सफाई की व्यवस्था, पीने के पानी की व्यवस्था, रास्तों में लाईट की व्यवस्था, स्वास्थ्य व्यवस्था, गांव की सड़कों और पुलियों के रख-रखाव, प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था और उसका प्रबन्धन आदि अनेक कार्य पंचायती राज संस्थाओं द्वारा किए जाते हैं। कई राज्यों में विकास के कार्यों को केन्द्र, राज्य और स्थानीय स्तर पर विभाजित किया गया है। स्थानीय

स्तर के कार्यों और योजनाओं का क्रियान्वयन पंचायती राज संस्थाओं को सौंपा गया है। जिसमें- स्वास्थ्य, सड़के, समाज कल्याण, लघु सिचाई, कृषि, ग्रामीण आवास, सहकारिता और कुटीर उद्योग आदि इन सभी कार्य क्षेत्रों में पंचायती राज संस्थाऐं एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रही हैं।

3. **योजनाओं के निर्माण और विकास कार्यों में भूमिका-** जैसा कि स्पष्ट किया जा चूका है कि पंचायती राज संस्थाऐं स्थानीय स्तर पर शासन-सत्ता में भागीदारी का एक उचित और सक्षम माध्यम है। पंचायती राज के माध्यम से आम नागरिक योजनाओं या नीतियों के निर्माण में अपनी भूमिका निभा सकता है, विकास कार्यों की निगरानी कर सकता है और सरकारी धन जो विकास योजनाओं में खर्च होता है, का ब्योरा मांग कर उसके दुरूपयोग को रोकने में सहायक हो सकता है। योजनाओं के निर्माण और विकास में पंचायतों के हर स्तर चाहे वो जिला पंचायत हो, क्षेत्र पंचायत हो या ग्राम पंचायत इन संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है। विकास कार्यों के निर्माण और योजनाओं के कार्यों के लिए पंचायती राज संस्थाऐं किस सीमा तक स्वतंत्र हैं तथा किस सीमा तक वित्तीय संसाधन रखें, यह सब राज्य सरकारों पर निर्भर रहता है।

   पंचायती राज संस्थाऐं लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में निचे से लेकर ऊपर तक सभी संस्थाओं को जोड़ने में एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में भी कार्य करती हैं, जिससे कि संस्थाओं के सदस्य योजनाओं के उद्देश्यों और उनकी प्राथमिकताओं के सम्बन्ध में विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। स्थानीय स्तर की संस्थाऐं विकास और योजनाओं के मार्ग में आने वाली बांधाओं से अवगत कराते हैं, जबकि उच्च संस्थाऐं बांधाओं के समाधान का मार्ग सुझाते हैं।

इस प्रकार देखा जाय तो लोकतंत्रीय शासन प्रक्रिया में सत्ता विकेन्द्रीकरण के सफल संचालन में स्थानीय संस्थाओं (पंचायतों) की बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका है। बिना स्थानीय संस्थाओं के हम सत्ता विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को पूर्ण नहीं कर सकते।

6.4 पंचायती रात के उभरते प्रतिमान

भारत की तरह बड़ी आबादी एवं क्षेत्रीय विभिन्नता वाले विशाल देश में लोकतंत्र को सार्थक एवं कल्याणोन्मुख बनाने के लिए विकेन्द्रीकरण अन्तर्निहित अनिवार्यता है। उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर शक्ति का प्रवाह होना लोकतंत्र में आवश्यक एवं वांछित प्रक्रिया है। स्थानीय स्वायत्त शासन के चार मूल कारण हैं- पहले, स्थानीय स्वायत्त शासन में स्थानीय लोगों की समस्या का समाधान किया जाता है। इसमें स्थानीय संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। दूसरे, स्थानीय संस्थाएं लोगों की राजनीतिक समझ को परिपक्व बनाती हैं अर्थात लोग स्वयं अपने प्रतिनिधि को चुनते हैं और अपने आस-पास हो रही घटनाओं पर ध्यान देते हैं। तीसरे, सत्ता का विकेंद्रीकरण तभी संभव है जब स्थानीय संस्थाएं निचले स्तर तक विद्यमान हों। क्योंकि केंद्र या राज्य सरकार के लिए सुदूर गांव की समस्या का तत्काल हल निकालना संभव नहीं होता है। अतः स्थानीय समस्या का निदान वहीं के लोगों द्वारा सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। चौथे एवं सबसे महत्वपूर्ण तथ्य, यदि स्थानीय संस्थाएं लोकतांत्रिक व्यवस्था पर आधारित हैं तो स्थानीय लोगों में राजनीतिक चेतना तथा समझ का विकास देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था के स्वरूप को मजबूत बनाता है

गाँवों एवं शहरों के विकास के बिना देश के विकास की कल्पना अधूरी है। भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में पंचायतों एवं शहरी स्थानीय निकायों की महत्वपूर्ण भूमिका है । देश के प्रथम प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरु ने कहा था कि "यदि हमारी स्वाधीनता को जनता की आवाज की प्रतिध्वनि बनना है तो पंचायतो को जितनी अधिक शक्ति मिले, जनता के लिए उतना ही लाभदायक है।" इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए देश में 73वें संविधान संशोधन के माध्यम से मृतप्राय स्थानीय निकाय संस्थाओं को जीवन प्रदान किया गया तथा संवैधानिक दर्जा दिए जाने की वजह से इनका अस्तित्व भी सुरक्षित हो गया । वित्तीय रूप से सशक्त तथा

स्वावलंबी होने पर ही स्थानीय निकायों का विकास में सशक्त एवं प्रभावी योगदान सुनिश्चित करना संभव है। जनसहभागी लोकतंत्र के सशक्तिकरण की दिशा में यह कारगर प्रयास है। लोकतंत्र को मजबूती प्रदान करने की दृष्टि से ये 'स्वशासन की इकाईयां' राजनीतिक एवं आर्थिक प्रजातंत्र को धरातल पर लाती हैं। 73वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 पंचायतों के सशक्तिकरण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था। इसे संसद के दोनों सदनों से पारित होने के बाद 20 अप्रैल 1993 को भारत के राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई और 24 अप्रैल 1993 से यह सम्पूर्ण देश में प्रभावी हुआ। पंचायतों के संबंध में संविधान में नया भाग IX शामिल किया गया और और 11वीं अनुसूची में उनके अधिकारों का उल्लेख किया गया।

स्थानीय स्वशासन व्यवस्था ने देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। देश को आधुनिकीकरण की ओर अग्रसर किया है तथा भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में की उपस्थिति ने ग्रामीण एवं शहरी जनता को जागरुकता प्रदान की है। स्थानीय स्वशासन व्यवस्था की उपब्धियां इस प्रकार हैं-

- जन सहभागिता
- अधिकारों के प्रति चेतना
- आर्थिक विकास
- महिलाओं की सहभागिता
- राजनीतिक जागरूकता
- लोकतंत्र का विकास तथा
- कार्य संपादन में शीघ्रता।

पंचायत सशक्तिकरण एवं जवाबदेही प्रोत्साहन योजना (पीईएआईएस) वर्ष 2005-06 से पंचायती राज मंत्रालय द्वारा लागू एवं कार्यान्वित की गई है। इसके तहत् राज्य सरकारों को अनुच्छेद- 243जी के अंतर्गत उसकी 11वीं अनुसूची के साथ पठित संवैधानिक औपचारिकता को पूरा करने के लिए पंचायतों के कार्य, कोष एवं पदाधिकारी विकसित करने के लिए राज्य सरकारों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इस योजना का उद्देश्य पंचायती राज संस्थाओं को पर्याप्त रूप से सशक्त करने के लिए राज्यों को प्रोत्साहित करना और पंचायती राज संस्थाओं को जवाबदेही की ओर ले जाने की व्यवस्था करना है। इसके अतिरिक्त देश में ग्राम पंचायतों, मध्यवर्ती पंचायतों एवं जिला पंचायतों में शासन की गुणवत्ता सुधार के लिए केंद्र सरकार ने सभी पंचायतों को ई-सक्षम करने के लिए 'ई-पंचायत मिशन मोड परियोजना' नामक एक परियोजना आरम्भ की है जो उनके कार्यकरण को और अधिक कुशल एवं पारदर्शी बनाएगी। ई-पंचायत का उद्देश्य पंचायती राज संस्थाओं को आधुनिकता, दक्षता, उत्तरदायित्व का प्रतीक बनाना एवं सूचना व संचार प्रौद्योगिकी के प्रति वृहत् ग्रामीण आबादी को अभिप्रेरित करना है। इस परियोजना का नेतृत्व केंद्र द्वारा और कार्यान्वयन राज्यों द्वारा किया जा रहा है। ई-पंचायत द्वारा पंचायतों के लिए राष्ट्रीय पंचायत निर्देशिका, पंचायतों की सामाजिक जनसांख्यिकीय प्रोफाइल, ऑनलाइन परिसंपत्तियों के पंचायतों की परिसंपत्ति निर्देशिका, पंचायत लेखांकन, योजना का ऑनलाइन कार्यान्वयन और निगरानी, शिकायत निवारण, सामाजिक अंकेक्षण, मांग प्रबंधन प्रशिक्षण जैसी सेवाएं प्रदान करना सम्भव हो पाया है।

भारत के प्रत्येक में पंचायती राज की प्रगति के आयाम भिन्न-भिन्न रहे हैं- सामाजिक-आर्थिक स्थिति, भौगोलिक संरचना, संस्कृति आदि ऐसे कारक हैं जिन्होंने राज्यों के पंचायती राज स्वरूप को एक नया रूप दिया है। यहाँ हम आंध्रप्रदेश, महाराष्ट्र एवं अरुणाचल प्रदेश के प्रतिमानों की चर्चा करेंगे, जिनसे पंचायती राज के नवीन आयाम परिलक्षित होते हैं।

6.4.1 आन्ध्र प्रदेश का प्रतिमान

सेवाओं एवं जन-सामान्य की आवश्यकताओं को जनता तक पहुँचाने में आंध्र प्रदेश सरकार ने सूचना-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में काफी प्रगति की है। देश में अधिकांश विदेशी कम्पिनियों के लिए सस्ती प्रोग्रामिंग किए जाने हेतु कार्यशालाओं के अस्तित्व से परिवर्तन आरम्भ हो चुके हैं। शहरों में, साइबर कैफे का फैलता तंत्र बड़ी संख्या में मध्यवर्गीय लोगों को सुविधा उपलब्ध कराता है जो कम्प्यूटर को वहन नहीं कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के मध्य सामंजस्य एवं दूर शिक्षा के रूप में सीखने के नवीन अवसर भी सूचना-प्रौद्योगिकी के कारण ही उपलब्ध हैं।

इसके साथ ही, PESA के अंतर्गत सुधार भी किए जा रहे हैं। जिसमें पंचायत उपबन्ध (अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तार) विधेयक (The Provisions on the Panchyats Extension to the Scheduled Areas Bill) है। भूरिया समिति की सिफारिशों के आधार पर यह सहमति बनी कि अनुसूचित क्षेत्रों के लिए एक केन्द्रीय कानून बनाना ठीक रहेगा, जिसके दायरे में राज्य विधानमंडल अपने-अपने कानून बना सकें। इसी दृष्टिकोण से दिसमबर, 1996 में संसद में विधेयक प्रस्तुत किया गया। दिसम्बर 1996 में ही यह दोनों सदनों से पारित हो गया तथा 24 दिसम्बर को राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त कर लागू हो गया इसका मूल उद्देश्य था कि केन्द्रीय कानून में जनजातियों की स्वायत्तता के बिंदु स्पष्ट कर दिये जाएं, जिनका उल्लंघन करने की शक्ति राज्यों के पास न हो। वर्तमान में 10 राज्यों (आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, झारखंड, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, ओडिशा और राजस्थान) में यह अधिनियम लागू होता है। इसका अन्य उद्देश्य जनजातीय जनसंख्या को स्वशासन प्रदान करना, पारम्परिक परिपाटियों की सुसंगता में उपयुक्त प्रशासनिक ढाँचा विकसित करना तथा ग्रामसभा को सभी गतिविधियों का केन्द्र बनाना भी है। इस अधिनियम की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें जनजातीय समाजों की ग्राम सभाओं को अत्यधिक ताकत दी गई है। प्रत्येक ग्राम सभा सामाजिक एवं आर्थिक विकास के कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं को स्वीकृति देगी, इसके पहले कि वे ग्राम स्तरीय पंचायत द्वारा कार्यान्वयन के लिए हाथ में लिये जायें। अनुसूचित क्षेत्रों में लघु जल निकायों की योजना बनाने तथा उसका प्रबन्धन करने का कार्य उपयुक्त स्तर की पंचायतों को सौंपा जाएगा। अनुसूचित क्षेत्रों में गौण खनिजों के लिये लाइसेंस या खनन पट्टा देने के लिये ग्रामसभा पंचायत के उचित स्तर की सिफारिशों को अनिवार्य बनाया जाएगा। अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायतों को स्वशासन की संस्थाओं के तौर पर कार्य करने के लायक बनाने के लिये अपेक्षित शक्तियाँ और अधिकार देते हुए राज्यों के विधानमंडल यह सुनिश्चित करेंगे कि ग्रामसभा और पंचायतों को निश्चित रूप से शक्तियाँ प्रदान की गई हों, जो निम्नलिखित हैं- किसी भी मादक पदार्थ की बिक्री या उपभोग को प्रतिबंधित या नियमित या सीमित करने की शक्ति, गौण वन उत्पादों का स्वामित्व, अनुसूचित क्षेत्रों में भूमि के हस्तांतरण को रोकने की शक्ति और किसी अनुसूचित जनजाति की अवैध रूप से हस्तांतरित की गई भूमि को वापस लेने के लिये उचित कार्यवाही करने की शक्ति, गाँवों के बाजारों के प्रबन्धन की शक्ति, चाहे वे किसी भी नाम से प्रयोग में हो, अनुसूचित जनजातियों को धन उधार दिये जाने की प्रक्रिया को नियंत्रित करने की शक्ति, आदिवासी उप-योजनाओं सहित स्थानीय योजनाओं तथा उनके लिये निर्धारित संसाधनों पर नियंत्रण रखने की शक्ति।

6.4.2 महाराष्ट्र का प्रतिमान

महाराष्ट्र में ग्रामसभा को सशक्त बनाकर सामाजिक-आर्थिक प्रगति को एक नई दिशा प्रदान की गयी है। संविधान के अनुसार ग्रामसभा के पास वे शक्तियां होंगी और ऐसे कार्यों के सम्पादन का दायित्व होगा जो राज्य की विधायिका द्वारा, विधिसम्मत तरीके से उसे प्रदान किए जाऐंगे। उदाहरण के लिए, ग्राम स्तर पर पंचायत द्वारा क्रियान्वित किए जाने से पहले सामाजिक-आर्थिक विकास की योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजनाओं को उनके द्वारा स्वीकृति दी जाती है। गरीबी उन्मूलन तथा अन्य कार्यक्रमों के तहत लाभार्थी के रूप में व्यक्तियों के चयन या

चिह्नित करने का दायित्व भी इसके पास होता है। ग्राम स्तर पर हर पंचायत के लिए ग्राम सभा से कोष का उपयोग करने हेतु एक प्रमाणपत्र पाना जरूरी होता है जिसके द्वारा ऐसी योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजनाओं का पंचायत द्वारा क्रियान्वयन किया जाता है।

साथ ही राज्य में ग्राम पंचायतों, मध्यवर्ती पंचायतों एवं जिला पंचायतों में शासन की गुणवत्ता सुधार के लिए केन्द्र सरकार ने सभी पंचायतों को ई-सक्षम करने के लिए ई-पंचायत मिशन मोड परियोजना नामक एक परियोजना आरम्भ की है, जो उनके कार्यकरण को और अधिक कुशल एवं पारदर्शी बनाएगी।

6.4.3 अरुणांचल प्रदेश का प्रतिमान

अरुणाचल प्रदेश ने त्री-स्तरीय पंचायत की जगह द्वि-स्तरीय व्यवस्था को लागू किया है। अंचल समिति को समाप्त कर दिया गया है तथा ग्रामसभा को काफी सशक्त बनाया गया है। ग्रामसभा के पास वे शक्तियां और ऐसे कार्यों के सम्पादन का दायित्व है जो राज्य की विधायिका द्वारा विधिसम्मत तरीके से उसे प्रदान किए गए हैं । उदाहरण के लिए ग्राम स्तर पर पंचायत द्वारा क्रियान्वित किए जाने से पहले सामाजिक-आर्थिक विकास की योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजनाओं को उनके द्वारा स्वीकृति दी जाती है। गरीबी उन्मूलन तथा अन्य कार्यक्रमों के तहत लाभार्थी के रूप में व्यक्तियों के चयन या चिह्नित करने का दायित्व भी इसके पास होता है। ग्राम स्तर पर हर पंचायत के लिए ग्राम सभा से कोष का उपयोग करने हेतु एक प्रमाणपत्र पाना जरूरी होता है, जिसके द्वारा ऐसी योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजनाओं का पंचायत द्वारा क्रियान्वयन किया जाता है।

आधुनिक युग को नागरिकों की उभरती हुई जन आकांक्षाओं का युग माना जाता है। वर्तमान समय में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के सहज परिणामस्वरुप शासन संबंधी कार्यों का अत्यधिक विस्तार हुआ है। ऐतिहासिक रूप में वंचित समूहों के प्रतिनिधित्व, भागीदारी और सशक्तिकरण के संबंध में पंचायतों की नई पीढ़ी ने उल्लेखनीय प्रगति की है। स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं में अनुसूचित जातियों और ऐतिहासिक रूप से वंचित अन्य वर्गों के लिए सीटों के आरक्षण के कारण आज शासन प्रक्रिया कहीं अधिक गहरी और कहीं ज्यादा व्यापक है, बेशक यह उतनी पारदर्शी नहीं हो पाई है। हालांकि यह तस्वीर का केवल एक ही पहलू है। तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि नई-नई शक्ति प्राप्त वर्गों खासकर दलितों के विरूद्ध हिंसा, दुर्व्यवहार और अवहेलना का सिलसिला भी जारी है। पंचायती राज संस्थाओं में भारतीय राजनीति को पूरी तरह बदल देने की क्षमता है। शासन प्रक्रिया धीरे-धीरे सरकारों के एकाधिकार से निकल रही है। सबसे निचले स्तर पर दलितों, आदिवासियों, महिलाओं और गरीबों के सत्ता में आने से शासन प्रक्रिया में अब बराबरी का स्तर आ गया है। आरक्षण ने वंचित समूहों को बेहतर पहचान दिलाई है और स्थानीय मुद्दों को प्रभावित करने का भी अवसर प्रदान किया है। एक प्रतिनिधि सरकार लोगों के जितना करीब होगी, वह उतना ही बेहतर काम करेगी। आदर्श स्थिति यह होगी कि स्थानीय सरकारें उच्चस्तरीय सरकारों की बराबर की भागीदारी हो। ग्रामीण जनता के सशक्तीकरण से आर्थिक प्रगति तेजी होगी और लोकतांत्रिक संस्थाएं सुदृढ़ होंगी।

अभ्यास प्रश्न-

1. क्या प्राचीन काल में पंचायतों को संवैधानिक दर्जा प्राप्त था?
2. गुप्त काल में पंचायतें किस रूप में कार्य करती थीं?
3. ब्रिटिश सरकार द्वारा विकेन्द्रीकरण कमीशन की नियुक्ति कब की गयी?
4. यह कथन किसका है कि ''सच्चा स्वराज सिर्फ चंद लोगों के हाथ में सत्ता आ जाने से नहीं बल्कि इसके लिये सभी हाथों में क्षमता आने से आयेगा। केन्द्र में बैठे 20 व्यक्ति सच्चे लोकतन्त्र को नहीं चला सकते। इसको चलाने के लिये निचले स्तर पर प्रत्येक गांव के लोगों को शामिल करना पड़ेगा।''
5. भारत में 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' कब प्रारम्भ किया गया?

6. 'सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की असफलता के अध्ययन के लिए किस समिति का गठन किया गया?

7. किस राज्य ने पंचायत के त्री-स्तरीय व्यवस्था के स्थान पर द्वि-स्तरीय व्यवस्था को लागू किया है?

8. सूचना प्रोद्यौगिकी के क्षेत्र में किस राज्य ने सबसे ज्यादा प्रगति की है?

6.5 सारांश

जैसा कि इकाई के अध्ययन के उपरान्त यह स्पष्ट है कि लोकतंत्र में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के लिए स्थानीय स्वशासन का बहुत अधिक महत्व हो गया है। स्थानीय स्वशासन के आधार स्थानीय संस्थाऐं अर्थात पंचायतें हैं। भारत में पंचायतें प्राचीन समय से ही विद्यमान रही हैं और स्थानीय स्तर पर सरकार या शासन-सत्ता के विकल्प के रूप में एक महत्वपूर्ण भूमिका में रही हैं। शासन का कोई भी रूप रहा हो पंचायतें हमेशा से ही विद्यमान रही हैं। स्थानीय स्तर पर सरकारों के रूप में ये इतनी लोकप्रिय रही कि वर्तमान तक इन पर आम स्थानीय जनता का विश्वास बना है।

इसी विश्वास के चलते आजादी के बाद भारत ने लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को स्वीकार करने के उपरान्त पंचायतों को और अधिक अधिकार देकर स्वायत्त बनाने के लिए संविधान में 73वां संविधान संशोधन कर इसे संवैधानिक संस्था के रूप में मान्यता दी। इस दष्टि से कह सकते हैं कि लोकतंत्रीय शासन प्रणाली में पंचायतों की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण हो गयी है। पंचायतें आम जन की शासन-सत्ता में भागीदारी करने का एक आसान और महत्वपूर्ण माध्यम है।

स्थानीय स्वशासन के रूप में पंचायतों ने आम जन के मस्तिष्क में शासन-सत्ता के प्रति एक सकारात्मक भाव जगाते हुए लोकतंत्रीय शासन प्रणाली को शक्ति प्रदान करने और उसमें विश्वास जगाने का कार्य किया है। पंचायतों में उभरते नये प्रतिमानों ने पंचायतों को आम जन के और नजदीक और एक विश्वसनीय संवैधानिक संस्था के तौर पर स्थापित करने का कार्य किया है।

6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नहीं, **2.** ग्राम समितियों के रूप में, **3.** सन् 1909 में, **4.** महात्मा गांधी, **5.** 1952, **6.** बलबन्त राय मेहता समिति, **7.** अरूणांचल प्रदेश, **8.** आन्ध्र प्रदेश

6.7 शब्दावली

सुदृढ़ीकरण (Strengthening)- वृद्धि करना या आगे बढाना, उद्-भव- आरम्भ या शुरूआत, प्रतिमान- प्रतिरूप या नमूना,

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पंचायत सन्दर्भ सामाग्री, हिमालयन एक्शन रिसर्च सेन्टर, देहरादून।
2. भारत में पंचायती राज- के0के0 शर्मा।
3. भारत में स्थानीय शासन- एस0आर0 माहेश्वरी।

6.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारत में पंचायती राज- के0के0 शर्मा।
2. भारत में स्थानीय शासन- एस0आर0 माहेश्वरी।
3. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

6.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पंचायती राज से आप क्या समझते हैं? इसके उद्-भव पर विस्तार से चर्चा करें।
2. स्थानीय स्वशासन को स्पष्ट करते हुए पंचायती राज की भूमिका की व्याख्या करें।
3. पंचायती राज के उभरते प्रतिमान पर एक निबन्ध लिखिये।

इकाई- 7 पंचायती राज का भविष्य और समस्याएं

इकाई की संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 स्थानीय स्वशासन और पंचायती राज
7.3 पंचायती राज का भविष्य
7.4 पंचायती राज की समस्याएं
7.5 सारांश
7.6 शब्दावली
7.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
7.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
7.10 निबन्धात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

भारत में पंचायतों का इतिहास बहुत पुराना है। यह आदिकाल से हमारी पुरातन धरोहर है। समुदाय और सामुदायिकता की भावना हमारी संस्कृति में प्राचीन काल से विद्यमान रही है। इसी सामुदायिकता और संगठन की भावना ने पंचायत व्यवस्था को जन्म दिया। इसलिए हमारे देश में पंचायतों की व्यवस्था सदियों से चली आ रही है। भारतीय संस्कृति के विकास के साथ-साथ पंचायती व्यवस्था का जन्म और विकास हुआ। भारत में समय के साथ-साथ तरह-तरह की शासन व्यवस्था में पंचायती व्यवस्था ने स्वयं को जीवित रखा। आज हम लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में पंचायतों के भविष्य की बात करें तो सफल लोकतंत्र का भविष्य ही पंचायती व्यवस्था पर टिका है।

जब पंचायतों ने संवैधानिक दर्जा प्राप्त कर लिया तो अब पंचायतें लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का आधार स्तम्भ बन गयी हैं। लोकतंत्रीय शासन प्रणाली अपनी सफलता के लिए सत्ता विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को अपनाते हुए स्थानीय स्वशासन की मजबूती और उसको अधिकार सम्पन्न बनाने पर जोर देता है और ये सब स्थानीय संस्थाओं (पंचायती राज संस्थाओं) के बिना संभव नहीं है। भारत जैसे बड़े और विविधताओं से भरे देश में लोकतंत्र के सफल संचालन और शासन-सत्ता में आम जन की भागीदारी को सुनिश्चित करने में पंचायतों का महत्वपूर्ण योगदान है और आगे भी रहेगा। इस दृष्टि से भारत में पंचायती राज का भविष्य उज्जवल है। इसके मार्ग में अनेक बांधाऐं हो सकती हैं, किन्तु इसके बगैर हम सफल लोकतंत्र की कल्पना भी नहीं कर सकते।

आईये भारत में पंचायती व्यवस्था के भविष्य, कि पंचायतों का भविष्य भारत में कैसा रहने वाला है? और इसके मार्ग में आने वाली बांधाओं का अध्ययन करते हैं।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- स्थानीय स्वशासन और पंचायती राज के विषय में जान पायेंगे।
- पंचायती राज का भविष्य क्या है, इस संबंध में जान पायेंगे।

- पंचायती राज के सामने आने वाली समस्याओं के संबंध में जान पायेंगे।

7.2 स्थानीय स्वशासन और पंचायती राज

स्थानीय स्वशसन अर्थात एक ऐसा शासन जहाँ लोग स्थानीय मुद्दों, गतिविधियों में अपनी सक्रिय भागीदारी निभा सकें। स्थानीय स्तर पर स्वशासन को लागू करने का माध्यम, गांव के लोगों द्वारा मान्यता प्राप्त लोगों का समूह हों, जिन्होंने सम्पूर्ण गांव का विकास, व्यवस्था व प्रबन्धन करना है। ऐसा समूह जिसका निर्णय सभी को मान्य हो।

स्थानीय स्वशासन लोगों की अपनी स्वयं की शासन व्यवस्था का नाम है। अर्थात् स्थानीय लोगों द्वारा मिल-जुल कर स्थानीय समस्याओं के निदान एवं विकास हेतु बनाई गई ऐसी व्यवस्था जो संविधान और राज्य सरकारों द्वारा बनाए गये नियमों एवं कानून के अनुरूप हो। दूसरे शब्दों में 'स्वशासन' गांव के समुचित प्रबन्धन में समुदाय की भागीदारी है।

यदि हम इतिहास को पलट कर देखें तो प्राचीन काल में भी स्थानीय स्वशासन विद्यमान था। सर्वप्रथम परिवार बने और परिवारों से समूह। ये समूह ही बाद में गांव कहलाये। इन समूहों की व्यवस्था प्रबन्धन के लिये लोगों ने कुछ नियम-कानून बनाये। इन नियमों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म माना जाता था। ये नियम समूह अथवा गांव में शांति व्यवस्था बनाये रखने, सहभागिता से कार्य करने व गांव में किसी प्रकार की समस्या होने पर उसके समाधान करने तथा सामाजिक न्याय दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। गांव का सम्पूर्ण प्रबन्धन तथा व्यवस्था इन्हीं नियमों के अनुसार होती थी। इन्हें समूह के लोग स्वयं बनाते थे व उसका क्रियान्वयन भी वही लोग करते थे। कहने का तात्पर्य है कि स्थानीय स्वशासन में लोगों के पास वे सारे अधिकार हों, जिससे वे विकास की प्रक्रिया को अपनी जरूरत और अपनी प्राथमिकता के आधार पर मनचाही दिशा दे सकें। वे स्वयं ही अपने लिये प्राथमिकता के आधार पर योजना बनायें और स्वयं ही उसका क्रियान्वयन भी करें। प्राकृतिक संसाधनों, जैसे- जल, जंगल और जमीन पर भी उन्हीं का नियन्त्रण हो ताकि उसके संवर्द्धन और संरक्षण की चिन्ता भी वे स्वयं ही करें। स्थानीय स्वशासन को मजबूत करने के पीछे सदैव यही मूलधारणा रही है कि हमारे गांव जो वर्षों से अपना शासन स्वयं चलाते रहे हैं, जिनकी अपनी एक न्याय व्यवस्था रही है, वे ही अपने विकास की दिशा तय करें। आज भी हमारे कई गांवों में परम्परागत रूप में स्थानीय स्वशासन की न्याय व्यवस्था विद्यमान है।

हमारे देश में पंचायतों की व्यवस्था सदियों से चली आ रही है। पंचायतों के कार्य भी लगभग समान हैं, उनके स्वरूप में जरूर परिवर्तन हुआ है। पहले पंचायतों का स्वरूप कुछ और था, उस समय वह संस्था के रूप में कार्य करती थी और गांव के झगड़े, गांव की व्यवस्थाऐं सुधारना जैसे- फसल सुरक्षा, पेयजल, सिंचाई, रास्ते, जंगलों का प्रबन्धन आदि मुख्य कार्य हुआ करते थे।

लोगों को पंचायतों के प्रति बड़ा विश्वास था। उनका निर्णय लोग सहज स्वीकार कर लेते थे और हमारी पंचायतें भी बिना पक्षपात के निर्णय किया करती थी। ऐसा नहीं कि पंचायतें सिर्फ गांव का निर्णय करती थी। बड़े क्षेत्र, पट्टी, तोक के लोगों के मूल्यों से जुड़े संवेदनशील निर्णय भी पंचायतें बड़े विश्वास के साथ करती थी। इससे पता लगता है कि पंचायतों के प्रति लोगों का पहले कितना विश्वास था। वास्तव में जिस स्वशासन की बात हम आज कर रहे हैं, असली स्वशासन वही था। जब लोग अपना शासन खुद चलाते थे, अपने विकास के बारे में खुद सोचते थे, अपनी समस्याएं स्वयं हल करते थे एवं अपने निर्णय स्वयं लेते थे।

धीरे-धीरे ये पंचायत व्यवस्थाऐं आजादी के बाद समाप्त होती गई। इसका मुख्य कारण रहा, सरकार का दूरगामी परिणाम सोचे बिना पंचायत व्यवस्थाओं में अनावश्यक हस्तक्षेप। जो छोटे-छोटे विवाद पहले गांवों में हल हो जाते थे, अब वे सरकारी कानून व्यवस्था से पूरे होते हैं। जिन जंगलों का हम पहले सुरक्षा भी करते थे और उसका सही प्रबन्धन भी करते थे, अब उससे दूरियां बनती जा रही हैं और उसे हम अधिक से अधिक उपभोग करने की दृष्टि से देखते हैं। जो गांव के विकास सम्बन्धी नजरिया हमारा स्वयं का था, उसकी जगह सरकारी योजनाओं ने ले ली है

और सरकारी योजनाऐं राज्य या केन्द्र में बैठकर बनाई जाने लगी और गांवों में उनका क्रियान्वयन होने लगा। परिणाम यह हुआ कि लोगों की जरूरत के अनुसार नियोजन नहीं हुआ और जिन लोगों की पहुँच थी, उन्होंने ही योजनाओं का उपभोग किया। लोग योजनाओं के उपभोग के लिए हर समय तैयार रहने, लगे चाहे वह उसके जरूरत की हो या न हो। उसको पाने के लिए व्यक्ति खींचातानी में लगा रहा। इससे कमजोर वर्ग धीरे-धीरे और कमजोर होता गया और लोग पूरी तरह सरकार की योजनाओं और सब्सिडी (छूट) पर निर्भर होने लगे। धीरे-धीरे पंचायत की भूमिका गांव के विकास में शून्य हो गई और लोग भी पुरानी पंचायतों से कटते गये।

लेकिन 80 के दशक में यह लगने लगा कि सरकारी योजनाओं का लाभ समाज के अंतिम व्यक्ति तक नहीं पहुँच पा रहा है। यह भी सोचा जाने लगा कि योजनाओं को लोगों की जरूरत के मुताबिक बनाया जाय। योजनाओं के नियोजन और क्रियान्वयन में भी लोगों की भागीदारी जरूरी समझी जाने लगी। तब ऐसा महसूस हुआ कि ऐसी व्यवस्था कायम करने की आवश्यकता है, जिसमें लोग खुद अपनी जरूरत के अनुसार योजनाओं का निर्माण करें और स्वयं उनका क्रियान्वयन करें।

इसी सोच के आधार पर पंचायतों को कानूनी तौर पर नये काम और अधिकार देने की सोची गई, ताकि स्थानीय लोग अपनी जरूरतों को पहचानें, उसके उपाय खोजें और उसके आधार पर योजना बनायें। योजनाओं को क्रियान्वित करें और इस प्रकार अपने गांव का विकास करें। इस सोच को समेटते हुए सरकार ने संविधान में 73वाँ संशोधन कर पंचायतों को नये काम और अधिकार दे दिये हैं। इस प्रकार केन्द्र और राज्य सरकार की तरह पंचायतें भी स्थानीय लोगों की अपनी सरकार की तरह कार्य करने लगी।

स्थानीय स्वशासन को स्थापित करने में पंचायतों की अहम भूमिका है। पंचायतें हमारी संवैधानिक रूप से मान्यता प्राप्त संस्थाऐं हैं और प्रशासन से भी उनका सीधा जुड़ाव है। भारतीय संविधान में 73वें संविधान संशोधन के द्वारा पंचायतों को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। भारत में प्राचीन काल से ही स्थानीय स्तर पर शासन का संचालन पंचायतें ही करती आयी हैं। स्थानीय स्तर पर स्वशासन के स्वप्न को साकार करने का माध्यम पंचायतें ही हैं। चूँकि पंचायतें स्थानीय लोगों के द्वारा गठित होती हैं और इन्हें संवैधानिक मान्यता भी प्राप्त है, अतः पंचायतें स्थानीय स्वशासन को स्थापित करने का एक अचूक तरीका है। ये संवैधानिक संस्थाएं ही आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की योजनाएं ग्रामसभा के साथ मिलकर बनायेंगी व उसे लागू करेंगी। गांव के लिये कौन सी योजना बननी है? कैसे क्रियान्वित करनी है? क्रियान्वयन के दौरान कौन निगरानी करेगा? ये सभी कार्य पंचायतें गांव के लोगों (ग्रामसभा सदस्यों) की सक्रिय भागीदारी से करेंगी। इससे निर्णय स्तर पर आम जनसमुदाय की भागीदारी सुनिश्चित होगी।

स्थानीय स्वशासन तभी मजबूत हो सकता है, जब पंचायतें मजबूत होंगी और पंचायतें तभी मजबूत होंगी, जब लोग मिल-जुलकर इसके कार्यों में अपनी भागीदारी देंगे और अपनी जिम्मेदारी को समझेंगे। लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करने के लिये पंचायतों के कार्यों में पारदर्शिता होना जरूरी है। पहले भी लोग स्वयं अपने संसाधनों का और अपने ग्राम विकास का प्रबन्धन करते थे। इसमें कोई शक नहीं कि वह प्रबन्धन आज से कहीं बेहतर भी होता था। हमारी परम्परागत रूप से चली आ रही स्थानीय स्वशासन की सोच बीते समय के साथ कमजोर हुई है। नई पंचायत व्यवस्था के माध्यम से इस परम्परा को पुनः जीवित होने का मौका मिला है। अतः ग्रामीणों को चाहिये कि पंचायत और स्थानीय स्वशासन की मूल अवधारणा को समझने की चेष्टा करें, ताकि ये दोनों ही एक-दूसरे के पूरक बन सकें।

गांवों का विकास तभी सम्भव है, जब सम्पूर्ण ग्रामवासियों को विकास की मुख्य धारा से जोड़ा जायेगा। जब तक गांव के सामाजिक तथा आर्थिक विकास के निर्णयों में गांव के पहले तथा अन्तिम व्यक्ति की बराबर की भागीदारी नहीं होगी तब तक हम ग्राम स्वराज की कल्पना नहीं कर सकते हैं। जन-सामान्य की अपनी सरकार तभी मजबूत बनेगी जब लोग ग्राम सभा और ग्राम पंचायत में अपनी भागीदारी के महत्व को समझेंगे।

7.3 पंचायती राज का भविष्य

जहाँ तक पंचायती राज के भविष्य का प्रश्न है, भारत जैसे विशाल क्षेत्रफल और जनसंख्या तथा विविधता भरे देश में केन्द्र में एक स्थान से सरकार चलाना आसान काम नहीं है। इसके लिए राज्य सरकारें और स्थानीय सरकारों (जिसे स्थानीय स्वशासन कहते हैं) को अधिक से अधिक स्वायत्ता देकर उन्हें शासन-सत्ता के संचालन के लिए अधिक शक्ति प्रदान करने की आवश्यकता है। इसके लिए भारतीय संविधान में 73वां और 74वां संवैधानिक संशोधन करके स्थानीय सरकारों को मजबूत करने का सफल प्रयास किया गया है। लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था में सत्ता विकेन्द्रीकरण और लोक कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए स्थानीय सरकारों का स्वायत्त होना और उन्हें संवैधानिक शक्ति प्रदान करना एक अनिवार्य आवश्यकता है। इस दृष्टि से भारत में और अन्य लोकतांत्रीक देशों में स्थानीय सरकारों का भविष्य उज्जवल है। इन स्थानीय सरकारों/पंचायतों का भविष्य इसलिए उज्जवल है क्योंकि आम जन की शासन-सत्ता में सीधी भागीदारी इन्हीं स्थानीय सरकारों के माध्यम से हो सकती है। आईये पंचायती राज के भविष्य को निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं-

1. **एक संवैधानिक संस्था के रूप में भविष्य-** जैसा कि पहले ही बताया जा चूका है कि भारत में पंचायतों का अस्तित्व प्राचीन काल से ही रहा है। स्वतंत्रता से पूर्व तक पंचायतें एक परम्परागत तरीके से कुछ सर्वमान्य सामाजिक नियमों के तहत बनी हुई थीं और उनका निर्णय सभी को मान्य होता था। पंचायतें, पंचों से मिल कर बनती थीं और पंचों को परमेश्वर का रूप माना जाता था, इसी पर मुंशी प्रेम चन्द्र की एक कहानी है, 'पंच परमेश्वर।' गांवों के लोग अपने साथ हुए अन्याय, किसी भी विवाद के हल और सुलह-समझौता कराने के लिए शासक के दरबार में जाने के बजाय पंचायत के पास जाते थे, जिस पर उनका अटुट विश्वास था और उसके निर्णय को स्वीकार भी कर लेते थे। इस दृष्टि से देखा जाय तो तब भी पंचायतों का भविष्य उज्जवल और आगे आने वाले समय में एक निर्णायक संस्था का मार्ग प्रशस्त हो रहा था। इसका भविष्य आजादी के बाद ये बना कि लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को अपनाते हुए स्थानीय संस्थाओं (पंचायतों) का महत्व बढ गया और स्थानीय संस्थाओं को और अधिक स्वायत्त तथा संवैधानिक मान्यता दिलाने के लिए भारतीय संविधान में सन् 1992 में 73वां संविधान संशोधन कर ग्राम स्तर पर स्थानीय संस्थाओं (पंचायतों) को संवैधानिक संस्था के तौर पर मान्यता दी गयी। पंचायतों को संवैधानिक तौर पर मान्यता मिलना और लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था में सत्ता विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को चलाने में स्थानीय संस्थाओं/पंचायतों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो गयी। पंचायतों के माध्यम से आम जन को शासन-सत्ता में सीधी भागीदारी करने का अवसर मिला।
   अत: देखा जाय तो एक संवैधानिक संस्था के तौर पर और स्थानीय स्वशासन के एक मजबूत आधार के रूप में पंचायतों का भविष्य उज्जवल है। पंचायतों के इसी महत्व को स्वीकार करते हुए इसे विशेषकर ग्राम पंचायत को लोकतंत्र की सबसे छोटी और प्रथम इकाई कहा जाता है।
2. **सत्ता विकेन्द्रीकरण के रूप में भविष्य-** लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था में 'जनता के शासन' के सिद्धान्त को लागू करने के लिए शासन को एक जगह केन्द्रित न करके उसका विकेन्द्रीकरण किया गया ताकि एक आम व्यक्ति भी शासन-सत्ता में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सके। उसकी यह भागीदारी सत्ता में भागीदार बनने के साथ-साथ नीतियों के निर्माण और उसके क्रियान्वयन में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करना है। शासन-सत्ता में निचले स्तर पर या स्थानीय स्तर पर यह भागीदारी स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से ही हो पायेगी और इन स्थानीय संस्थाओं में पंचायतें भी एक मुख्य और महत्वपूर्ण संस्था हैं। इसकी महत्ता का आंकलन इस बात से भी किया जा सकता है कि 'पंचायत संस्थाओं में ग्राम पंचायत को

लोकतंत्र की सबसे छोटी और महत्वपूर्ण इकाई माना गया है।' अत: इस दृष्टि से पंचायतों का भविष्य लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था में मजबूत और सुरक्षित है।

3. **स्थानीय स्वशासन या स्थानीय सरकार के रूप में भविष्य-** पंचायतों और विशेषकर ग्राम पंचायत में ग्रामसभा के माध्यम से गांव के लोग, गांव के विकास के लिए नीतियों को बनाने में और विकास कार्यों के निमार्ण की निगरानी कर उसके क्रियान्वयन की गुणवत्ता को बनाये रखने में सक्रिय भूमिका निभाते हैं, उससे स्थानीय लोगों में शासन-सत्ता के प्रति एक अपनत्व का भाव आता है और स्थानीय स्वशासन की भावना बलवति होती है। पंचायत के तीनों स्तरों- ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत और जिला पंचायत पर जहाँ एक ओर जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं वहीं दूसरी और प्रशासनिक ढ़ाँचा। इनके आपसी तालमेल और स्थानीय लोगों की सहभागिता और सहयोग से ही स्थानीय सरकार जन हित के कार्यों का सफलता पूर्वक क्रियान्वयन करती है। स्थानीय स्वशासन या स्थानीय सरकार के रूप में पंचायतें लोकतंत्र के सफल संचालन का भविष्य हैं।
4. **राजनीतिक मंच के रूप में भविष्य-** स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के तौर पर पंचायतें आमजन की राजनीति में भागीदारी करने का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक मंच बन रही हैं। पंचायतों के चुनाव स्थानीय लोगों को राजनीति में हाथ आजमाने और अपनी राजनीतिक समझ को परखने का मौका देते हैं और भविष्य में एक सफल राजनीतिज्ञ बनने का अवसर देते हैं। पंचायतों के चुनाव एक राजनीतिक हलचल पैदा करते हैं और स्थानीय लोग इसमें उत्साह के साथ भागीदारी करते हैं। अब जिस तरह से पंचायत के चुनाव राजनीतिक दलों के बैनर तले लड़े जा रहे हैं और दलों द्वारा जमीनी स्तर पर अपने वोट बैंक को जानने और अपनी राजनीतिक हैसियत को समझने की एक प्रयोगशाला बन रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि एक राजनीतिक मंच के रूप में पंचायतों का भविष्य मजबूत है।

7.4 पंचायती राज की समस्याऐं

पंचायती राज व्यवस्था लोकतांत्रिक विकेन्द्रीक्रण और स्थानीय स्वशासन का आधार है। लोकतंत्र और स्थानीय स्वशासन की सफलता पंचायती राज व्यवस्था की पर निर्भर करती है। लोकतंत्र में पंचायती राज सफलता पूर्वक आगे बढ रहा है और एक सफल लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के संचालन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है। किन्तु पंचायती राज व्यवस्था के संचालन में भी अनेक बांधाऐं और समस्याऐं आती हैं। आईये पंचायती राज की समस्याओं का अध्ययन करते हैं-

1. **पूर्ण संवैधानिक व्यवस्था का अभाव-** भारतीय संविधान में 73वां संवैधानिक संशोधन करके पंचायतों को एक संवैधानिक संस्था के तौर पर मान्यता तो मिल गयी किन्तु राज्यों के लिये पूर्ण संवैधानिक प्रबन्ध न होने के कारण पंचायतों की राज्य पर निर्भरता बढ गयी है। संविधान के अनुच्छेद-40 के अनुसार, राज्य ग्राम पंचायतों को गठित करने की कार्यवाही करेगा। जबकि यह नीति निदेशक सिद्धान्त में सम्मिलित है। जबकि यह आदेशात्मक नीति अनिवार्य नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह राज्यों पर निर्भर करता है कि वे अपने राज्य में पंचायती राज संस्थाओं को गठित कर भी सकते हैं और नहीं भी। इसका एक प्रभाव यह भी है कि कई राज्यों में नियमित तौर पर पंचायतों के चुनाव भी नहीं हो पाते हैं। पंचायतों के लिए संविधान में पूर्ण संवैधानिक प्रबन्ध न होने के कारण पंचायती राज संस्थाओं की स्थिति कमजोर हुई है।
2. **पंचायती राज संस्थाओं पर राज्य सरकारों का नियंत्रण-** पंचायतें राज्य सूची का विषय है। अत: पंचायतों के वर्तमान और भविष्य का निर्णय राज्य सरकारें करती हैं। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीक्रण की प्रक्रिया में राज्यों और पंचायती राज संस्थाओं की बहुत सक्रिय भूमिका है, किन्तु पंचायती राज संस्थाओं

द्वारा अपने अधिकारों के दुरूपयोग की बहुत अधिक आशंका रहती है, जिस कारण राज्य सरकारों द्वारा बनाये गये अधिनियमों के माध्यम से पंचायतों पर नियंत्रण रखा जाता है। पंचायती राज संस्थाओं पर राज्य सरकारों द्वारा रखा जाने वाला नियंत्रण व्यापक है, क्योंकि व्यवहारिक रूप में पंचायती राज संस्थाओं का काई विषय ऐसा नहीं है जिस पर राज्य सरकारें अपने अधिकारों का प्रयोग नहीं करती हों। इसके चलते राज्य सरकारें पंचायती राज संस्थाओं के संगठनात्मक, क्रियात्मक और रचनात्मक कमजोरी को उजागर करते रहते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि पंचायती राज संस्थाओं को या निलंबित कर दिया जाता है या पंचायतों का कार्यकाल समाप्त होने के उपरान्त चुनावों को स्थगित कर दिया जाता है। कई अवसरों पर राज्य सरकारें पंचायत कर्मचारियों की कई कमजोरियों को उजागर कर या तो उन्हें निलंबित कर देते है या उन्हें कार्यमुक्त कर देते हैं। राज्य सरकारों के नियंत्रण से पंचायती राज संस्थाओं की सक्रिय कार्यशिलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

3. **वित्तीय संसाधनों की समस्या-** भारतीय संविधान के 73वें संसोधन के तहत स्थानीय शासन को महत्त्व प्रदान करते हुए ग्राम पंचायतों को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। पंचायतों के आय से संबंधित महत्वपूर्ण प्रावधानों को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है-

   - संविधान के अनुच्छेद- 270 के अनुसार केन्द्रीय वित्त आयोग की सिफारिश के आधार पर स्थानीय निकायों को अनुदान प्रदान करने की बात की गई है।
   - केंद्र प्रायोजित योजनाओं के क्रियान्वयन के लिये धन और अतिरिक्त केंद्रीय सहायता के अंतर्गत विशिष्ट आवंटन के प्रावधान भी किये गए हैं।
   - अनुच्छेद- 243 झ के अनुसार राज्य वित्त आयोगों की सिफारिश के आधार पर राज्य सरकारों द्वारा आवंटित धन।
   - इसके अलावा राज्य सरकार से प्राप्त ऋण अनुदान के प्रावधान भी किये गए हैं।
   - आंतरिक संसाधन सृजन के प्रावधान भी किये गए हैं।
   - राज्य सरकारों के लिये यह अनिवार्य किया गया है कि वे पंचायतों को कर और गैर-कर राजस्व की वसूली के लिये सक्षम बनाने हेतु कानून बनाये।

   पंचायतों के आय के प्रमुख स्रोतों में- प्रान्तीय सरकार से प्राप्त अनुदान, भू-राजस्व की धनराशि के अनुसार पंचायत कर, विभिन्न मनोरंजन के कार्यों से संबंधित मनोरंजन कर, गाँव के बाजारों तथा मेलों पर लगाया जाने वाला कर, पशु तथा वाहनों पर लगाया जाने वाला कर, संबंधित क्षेत्र के तालाबों में मत्स्य पालन से होने वाली आय, कूड़ा-करकट तथा मृत पशुओं की बिक्री से होने वाली आय, अन्य संपत्तियों के क्रय विक्रय पर कर। पशुओं का रजिस्ट्रेशन फीस, दुग्ध उत्पादन पर लगाया जाने वाला कर, नालियों, सड़कों की सफाई तथा रोशनी के लिये लिया जाने वाला कर आदि। ये भी एक सच्चाई है कि भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक बनावट के आधार पर गठित कई ग्राम पंचायतों में उपरोक्त करों के अधिकांश प्रावधान लागू ही नहीं हो पाते हैं।

   वित्तीय संसाधनों की समस्या पंचायती राज संस्थाओं की एक मुख्य समस्या है। पंचायतों के पास अपने जो आय के स्रोत हैं वो बहुत ही सीमित हैं, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। किंतु इन प्रावधानों के बाद भी भारत में ग्राम पंचायतों की वित्तीय स्थिति कमजोर है। अपने अधिकांश वित्तीय आवश्यकताओं के लिये ये राज्य सरकार के अनुदानों पर आश्रित हैं। विश्व के अन्य देशों के मामले में भी भारत में स्थानीय निकायों के पास अपेक्षाकृत कम राजस्व है। 14वें वित्त आयोग द्वारा पंचायतों के वित्तीय स्रोतों को बढ़ाए

जाने के लिये पर्याप्त प्रावधान किये गए हैं। वर्तमान समय में पंचायतों के लिये वित्तीय स्रोतों को बढ़ाए जाने की आवश्यकता है, ताकि इन्हें अपने कार्यों हेतु उचित धन प्राप्त हो सके।

4. **जटिल सामाजिक संरचना और राजनीतिक समझ का अभाव-** भारतीय समाज विविधताओं से भरा समाज है, जिसकी झलक भारतीय सामाजिक संरचना के साथ-साथ भारतीय राजनीति में भी दिखती है। यहाँ पर हाने वाले प्रत्येक चुनाव चाहे वो लोकसभा के हों या स्थानीय स्तर पर पंचायतों और नगर निकायों के चुनाव, प्रत्येक चुनाव पर राजनीतिक दलों से लेकर धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र और भाई-भतीजावाद हावी रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि भारतीय मतदाता धर्म, जाति से ऊपर उठ कर राजनीतिक समझ पैदा नहीं कर पाता, जिस कारण स्थानीय चुनावों में भी विकास, सुरक्षा और ईमानदार प्रतिनिधि ये पिछे रह जाता है और लोग अपने समुदाय और भाई-बन्धुओं को चुनाव में विजयी बनाने के लिए मतदान करता है। पंचायत चुनावों की एक प्रमुख समस्या यह है कि महिलाओं और अनुसूचित जाति और जनजाति के पंचायत प्रतिनिधि बनने पर महिलाओं के स्थान पर उनके पति या अन्य संबंधी पुरूष और अनुसूचित जाति और जनजाति के स्थान पर अन्य जाति के प्रभावी व्यक्ति उनके स्थान पर उनके नाम से कार्यों का संचालन करने लगते हैं।
5. **पंचायत प्रतिनिधियों और प्रशासन के बीच तालमेल का अभाव-** पंचायती राज के लिए यह एक बड़ी समस्या है कि पंचायत प्रतिनिधियों और प्रशासन के बीच कई मौकों पर नीतियों के क्रियान्वयन में तालमेल नहीं बन पाता और टकराव की स्थिति भी पैदा हो जाती है। प्रशासन, प्रशासनिक नियम-कानूनों को भली-भांति से जानने और समझने वाला और विकास कार्यों के निर्माण से लेकर क्रियान्वयन तक की विधि में पारंगत होता है। किन्तु कई बार ऐसा होता है कि चुने हुए जनप्रतिनिधि कोई विशेषज्ञ तो होते नहीं और न ही पंचायत के कार्यों और अधिकारों की अधिक जानकारी रखते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि जनहित के कार्यों में उनमें टकराव पैदा हो जाता है और निर्माण-कार्यों में अनावश्यक बांधा उत्पन्न हो जाती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. स्थानीय स्वशासन किस शासन व्यवस्था का नाम है?
2. किस संविधान संशोधन के तहत् पंचायतों को संवैधानिक मान्यता प्राप्त हुई?
3. 74वां संविधान संशोधन किससे संबंधित है?
4. पंचायतों के आय के स्रोत क्या हैं?

7.5 सारांश

भारतीय समाज और शासन व्यवस्थाओं में पंचायतों का अस्तित्व रहा है और पंचायतों ने न्याय व्यवस्था की एक प्रक्रिया के रूप में अपनी सक्रिय भूमिका निभाई है। जिस कारण पंचायतों को सम्मान की नजर से देखा जाता रहा है। यहॉ तक कि पंचायतों के पंचों को पंच-परमेश्वर की संज्ञा दी गयी है। अत: कह सकते हैं कि स्थानीय स्तर पर एक न्याय प्रणाली और एक शासन व्यवस्था के रूप में पंचायतें सम्मानीय और सर्वोपरि रही हैं। जिसका परिमाण यह है कि पंचायतों को संविधान में 73वां संवैधानिक संशोधन करते हुए उन्हें संवैधानिक दर्जा प्रदान कर और सशक्त बनाया गया है। आज स्थानीय स्वशासन और लोकतंत्र की एक मजबूत इकाई के रूप में पंचायतों की नई पहचान बन गयी है। पंचायतों के माध्यम से आम जन भी शासन-सत्ता में अपनी भागीदारी निभा पा रहा है। गांव स्तर पर नागरिक अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप नीतियों के निर्माण में अपनी भागीदारी कर रहे हैं और नीतियों के क्रियान्वयन में निगरानी के तौर पर अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर रहे हैं।

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और स्थानीय स्वशासन के रूप में पंचायती राज का भविष्य बहुत ही उपयोगी है। ये बात अलग है कि चुनौतियों के तौर पर पंचायती राज व्यवस्था में अभी बहुत कुछ सुधार किया जाना आवश्यक है। ये चुनौतियां पंचायती राज व्यवस्था में एक समस्या के तौर पर सामने आ रहे हैं। किन्तु इन समस्याओं का समाधान नागरिक और राजनीतिक इच्छा शक्ति से संभव है और भविष्य में पंचायती राज इन चुनौतियों का सामना करते हुए स्थानीय स्वशासन के रूप में अपना स्वर्णिम भविष्य लिखेगा।

7.6 शब्दावली

विकेन्द्रीकरण- किसी चीज का एक स्थान पर एकत्रन होना, सत्ता विकेन्द्रीकरण- शासन-सत्ता एक केन्द्र पर स्थित न होकर उसका केन्द्र, राज्य और स्थानीय स्तर पर बंटा होना, स्थानीय स्वशासन- निचले या इकाई स्तर पर शासन-सत्ता में भागीदारी, पारदर्शिता- स्पष्टता, अस्तित्व- उपस्थिति

7.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. स्थानीय स्वशासन लोगों की अपनी स्वयं की शासन व्यवस्था का नाम है, **2.** 73वां संविधान संशोधन, **3.** नगर निकायों से, **4**. प्रान्तीय सरकार से प्राप्त अनुदान, भू-राजस्व की धनराशि के अनुसार पंचायत कर, विभिन्न मनोरंजन के कार्यों से संबंधित मनोरंजन कर, गाँव के बाजारों तथा मेलों पर लगाया जाने वाला कर, पशु तथा वाहनों पर लगाया जाने वाला कर, संबंधित क्षेत्र के तालाबों में मत्स्य पालन से होने वाली आय, कूड़ा-करकट तथा मृत पशुओं की बिक्री से होने वाली आय, अन्य संपत्तियों के क्रय विक्रय पर कर। पशुओं का रजिस्ट्रेशन फीस, दुग्ध उत्पादन पर लगाया जाने वाला कर, नालियों, सड़कों की सफाई तथा रोशनी के लिये लिया जाने वाला कर।

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पंचायती राज प्रणाली: चुनौतियां और समाधान- डॉ0 रमेश प्रसाद द्विवेदी, प्रवक्ता. कॉम।
2. ई-ज्ञान कोष- ईग्नू।
3. पंचायती राज संस्थान- दृष्टि आईएएस।

7.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

4. भारत में पंचायती राज- के0के0 शर्मा।
5. भारत में स्थानीय शासन- एस0आर0 माहेश्वरी।
6. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

7.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्थानीय स्वशासन को स्पष्ट करते हुए पंचायती राज के भविष्य पर चर्चा करें।
2. पंचायतों और पंचायती राज व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? पंचायती राज के मार्ग पर आने वाली बांधाओं पर प्रकाश डालें।

इकाई- 8 स्वैच्छिक अभिकरणों की भूमिका

इकाई की संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 स्वैच्छिक अभिकरणों की आवश्यकता
8.3 स्वैच्छिक अभिकरण का अर्थ
8.4 स्वैच्छिक अभिकरणों की विशेषताऐं
8.5 स्वैच्छिक अभिकरणों की भूमिका
    8.5.1 आर्थिक-सामाजिक विकास के क्षेत्र में स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका
    8.5.2 समाज के विकास में स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका
    8.5.3 राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विकास में भूमिका
8.6 स्वैच्छिक अभिकरणों की कार्यशैली
8.7 सारांश
8.8 शब्दावली
8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
8.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
8.12 निबन्धात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

स्वैच्छिक अभिकरण व्यक्तियों, कार्यकर्ताओं, स्वंय सेवकों और सामाजिक कल्याण में जुटे लोगों का एक ऐसा समूह अथवा संगठन है जो मूलत: जनहित में किन्हीं निश्चित लक्ष्यों को लेकर कार्य करते हैं तथा लाभ की प्रवृत्ति से रहित सामाजिक विकास की प्रक्रिया को मजबूत करने हेतु सृजनशीलता और तन्मयता के साथ एक संगठन के रूप में कार्य करते हैं। स्वैच्छिक अभिकरण व्यावसायिक उद्देश्यों से परे रहकर मानवीयता और सहकारिता की भावना पर चलने वाला एक समूह होता है जो स्वतंत्र कार्य करता है और सीधे सरकारी नियंत्रण में नहीं होता है। स्वैच्छिक अभिकरण पंजीकृत भी हो सकते हैं और बिना पंजीकरण करवाये भी कोई समूह या संस्था समाज सेवा का कार्य कर सकती है। यह व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जिसने स्वयं को एक विधि सम्मत निकाय में संगठित कर लिया हो, ताकि वे संगठित कार्यक्रमों के माध्यम से सामाजिक सेवाएँ प्रदान कर सकें। ये संगठन अपनी ही पहल पर अथवा बाहर से प्रेरित होकर, साथ ही आत्मनिर्भर रहकर गतिविधियाँ चलाते हैं। ये संस्थाएँ लोगों की जरूरतें पूरी करने तथा सार्वजनिक क्षेत्र की प्रसार सेवाओं को एक-दूसरे के करीब लाने का प्रयास करती हैं। ग्रामीण कमजोर वर्गों के न्यायोचित और प्रभावी विकास को अंजाम देने के लिए भी ये संस्थाएँ निरन्तर प्रयत्न करती रहती हैं। सभी गैर-सरकारी संगठन स्वैच्छिक अभिकरण नहीं होतीं। कुछ स्वैच्छिक अभिकरण का उद्देश्य कमजोर लोगों की मदद कर ख्याति प्राप्त करना अथवा धर्मार्थ कार्य करना होता है, जबकि कुछ संगठन ज्ञान प्राप्त करने, विकास के रास्ते सुगम बनाने, आत्मनिर्भर बनाने तथा गरिमा एवं स्वाभिमान से जीवन बिताने के अधिकार को मान्यता देकर कार्य करते हैं।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- स्वैच्छिक अभिकरणों की आवश्यकता के संबंध में जान पायेंगे।
- स्वैच्छिक अभिकरण का अर्थ समझ पायेंगे।
- स्वैच्छिक अभिकरणों की भूमिका से अवगत हो पायेंगे।
- स्वैच्छिक अभिकरणों की कार्यशैली को समझ पायेंगे।

8.2 स्वैच्छिक अभिकरणों की आवश्यकता

विगत कुछ समय के अनुभव यह बताता है कि विकास कार्यों में सरकारी तन्त्र की भूमिका आशा के अनुरूप परिवर्तन नहीं ला सकी है। यद्यपि ग्रामीण पुनर्निर्माण के कार्यक्रमों का सूत्रपात और क्रियान्वयन नौकरशाही ही करती है, फिर भी गाँवों में अनेक गतिविधियों के लिए वे उपयुक्त नहीं हैं जिसके कारण सरकार को इन कार्यक्रमों को चलाने में सफलता नहीं मिलती है। विकास कार्यक्रमों को जनभागीदारी के बिना सफल नहीं बनाया जा सकता है। जनभागीदारी प्राप्त करने के लिए स्वैच्छिक अभिकरण काफी सहायक हैं। स्वैच्छिक अभिकरण की भूमिका को अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर भी व्यापक मान्यता प्राप्त हुई है।

स्वैच्छिक अभिकरण बहुत हद तक लोगों को सहायता प्रदान करने में सफल हुए हैं। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि कोई भी विकास कार्यक्रम तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उनमें वे लोग शामिल न हों, जिसके लिए वे चलाए जा रहे हैं। ऐसे कार्यों को स्वयंसेवी संगठन अच्छी तरह से अंजाम दे रहे हैं। सरकारी एजेंसियाँ क्रमशः निष्क्रिय और भ्रष्ट होती जा रही हैं, केंद्र से लेकर राज्यों तक कहीं भी इस सरकारी तंत्र को गतिशीलता और स्वच्छ करने की कोई राजनीतिक इच्छा के संकेत नहीं हैं, ऐसी स्थिति में स्वैच्छिक संगठनों से बहुत उम्मीद है कि वे जनता के विकास की प्रक्रिया में संवेदनशीलता के साथ महत्वपूर्ण भूमिका निभाएँगे। अन्ना हजारे एवं बाबा रामदेव जैसे स्वैच्छिक संगठन जन-जागृति के लिए कड़ा संघर्ष कर रहे हैं। केंद्र सरकार के कई मंत्रालय एवं अनेक राज्य सरकारें सरकारी तंत्र की सीमाओं को समझकर राजकीय योजनाओं को कभी स्वायत्त रूप में तो कभी सहभागिता के रूप में स्वैच्छिक संगठनों के साथ क्रियान्वित कर रही हैं। भारत सरकार की एजेंसी 'कपाट' इसमें स्वैच्छिक संगठनों के संयोजन को लेकर महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। इसलिए स्वैच्छिक संगठनों का भविष्य संभावनाओं से युक्त है। स्वैच्छिक संगठनों का सामाजिक विकास की प्रक्रिया को लेकर अनुभव बढ़ता जा रहा है और वे इन निष्कर्ष को प्राप्त किए हुए हैं कि सामाजिक विकास एक सतत सृजनशील प्रक्रिया है। वह राजकीय तंत्र की जड़ता से कुंठित होती है इसलिए समाज की राज्य पर निर्भरता कम-से-कम रहनी चाहिए। इस दृष्टि से स्वैच्छिक संगठनों में सामाजिक विकास को लेकर पहले से अधिक आत्मविश्वास है, उनमें तेजी से संख्यात्मक विस्तार तो हो ही रहा है। उनकी प्रभाविता भी क्रमश: बढ़ती जा रही है।

स्वैच्छिक संगठनों में एक ओर सामाजिक समस्याओं के आकलन की शोधपरक दृष्टि होती है तो दूसरी ओर उनके निराकरण की मौलिक, सर्जनात्मक अभिवृत्ति। एक ओर समाज की समस्याओं को दूर करने की ही नहीं समाज में ऐसी समस्याओं के निराकरण की स्थाई सामर्थ्य विकसित करने की इच्छा होती है तो दूसरी ओर समाज में सहभागिता की प्रक्रिया को समृद्ध करने का संकल्प भी इस प्रकार स्वैच्छिक संगठन ऐसे-ऐसे कार्य संपादित कर देते हैं जिनमें सरकारी तंत्र तो हाथ डाल भी नहीं सकता। अच्छे वैच्छिक संगठन तो समाज में विकास-प्रक्रिया को उत्तेजित करने के साथ-साथ सरकार की कार्य-प्रणाली को भी सकारात्मक रूप से प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। प्रगतिशील सरकारों एवं नौकरशाही का प्रगतिशील घटक ऐसे स्वैच्छिक संगठन सामाजिक विकास की प्रक्रिया में सृजनशील प्रवृत्तियों को उत्तेजित करते हैं। स्वैच्छिक संगठन के प्रयोगात्मक अनुभवों का बराबर लाभ उठाता है।

स्वैच्छिक संगठन समाज और सरकार के बीच सकारात्मक, सर्जनात्मक तालमेल बिठाने की भी कोशिश करते हैं। वस्तुतः अच्छे स्वैच्छिक संगठनों की इसी तरह की भूमिकाओं के बारे में भारत सरकार के योजना आयोग का मानना है कि-उपयुक्त ढंग से संगठित स्वयंसेवी, प्रयास, कमजोर और जरूरतमंद लोगों की सहायता हेतु समुदाय में सुलभ सुविधाओं को बढ़ाने में काफी हद तक कारगर हो सकता है।'

8.3 स्वैच्छिक अभिकरण का अर्थ

भारत में समाज सेवा और स्वैच्छिक सेवा की भावना की प्राचीन परम्परा रही है। धर्म की पारम्परिक भावना के अतिरिक्त दो शताब्दियों से भारत में गरीबों, दीन-हीन, अपंग एवं कमजोर वर्गों के सहायतार्थ असंख्य परोपकारी और सेवायुक्त संस्थाऐं अस्तित्व में आयी हैं। स्वयं महात्मा गांधी का राष्ट्रीय स्वतंत्रता सम्बन्धी आन्दोलन, प्रारम्भिक स्तर पर सामाजिक पुनर्निर्माण, स्वयं सेवा एवं गरीबों में सर्वाधिक निर्धनों के सेवा सम्बन्धी संदेश पर ही था। जिसका मुख्य आधार स्वैच्छिक कार्यवाही था।

स्वैच्छिक शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Voluntarism' शब्द से हुई है। जिसका अर्थ है- इच्छा या स्वतंत्रता। हैराल्ड लास्की ने इसे समूह या संघ बनाने की स्वतंत्रता के सन्दर्भ में कहा है कि रूचिगत उद्देश्यों के संवर्धन के लिए व्यक्तियों के एकत्र होने की मान्यता प्राप्त कानूनी अधिकार का नाम ही संघ बनाने की स्वतंत्रता है।

टी0 एन0 चतुर्वेदी के अनुसार, "स्वैच्छिक अभिकरण या समूह एक ऐसा औपचारिक दल विहिन व निजी निकाय होता है जो व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रयास के माध्यम से अस्तित्व में आता है और जो व्यक्तिगत या सामूहिक प्रयत्न के माध्यम से समाज के किसी विशेष तबके के जीवन को किसी भी मायने में बेहतर बनाने पर केन्द्रित होता है।"

रिग्स के अनुसार, "यह व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जिसका आधार राज्य नियंत्रण से परे स्वैच्छिक सदस्यता पर टिका रहता है और जो सामान्य हित को अग्रसर करने पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है।"

स्वैच्छिक अभिकरण वस्तुतः व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है, जहाँ व्यक्तिगत हित का बलिदान कर सामूहिक हित को बढ़ावा देने का प्रयास किया जाता है। समूह की सदस्यता पूरी तरह स्वैच्छिक होती है। स्पष्ट तौर पर कहा जाए तो किसी समूह अथवा संगठन के निर्माण हेतु कई बार कानूनी कार्यवाही की आवश्यकता नहीं होती है। केवल समूहों को आधिकारिक निकायों के समक्ष कानूनी रूप से पंजीकृत कराना आवश्यक होता है कि इस प्रकार के जन-समूह विद्यमान हैं। ये अनिवार्य रूप से राजनैतिक नियंत्रण के उपकरण नहीं होते हैं, किन्तु इनमें से अधिकांशतः अर्थव्यवस्था को धोखे से बचाने के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। स्वैच्छिक समूह ऐसे अज्ञात, गैर-लाभकारी संगठन होते हैं, जो ऐसे व्यक्तियों द्वारा संचालित किये जाते हैं। जिन्हें समूह के संचालन हेतु सरकार की ओर से धन उपलब्ध नहीं कराया जाता है। ये चैरिटी जैसे आन्तरिक स्रोतों से अपने राजस्व का इंतजाम करते हैं।

स्वैच्छिक अभिकरण संगठित स्वेदेशी समूहों द्वारा स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकास कार्यों में सहयोग देने वाली प्राइवेट एजेंसी होती है। स्वयं सेवी संस्थायें सरकारी संगठन, मंत्रालय, विभाग, एजेंसीज और अधिकृत कार्यालयों को सरकारी उद्देश्यों नीति-नियमों, कार्यक्रमों और योजनाओं आदि को पूरा करने में सहयोग करते हैं। जनहित में स्वयं सेवी संस्थायें ये सारे कार्य सरकार के साथ जनभागिता नीति के तहत करती हैं। स्वैच्छिक अभिकरण सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्तर पर पिछड़े वर्ग की उन्नति, बेहतरी व विकास के लिए कार्य करती है जिससे उनको समाज की मुख्यधारा में लाया जा सके और समाज में लोगों का जीवन स्तर उच्च हो और वे अच्छे से जीवनयापन कर सकें। स्वैच्छिक अभिकरण समाज में लोगों को उनके कानून और अधिकारों के हक की लड़ाई में सहयोग देती हैं। सूचना का अधिकार से जुड़ा अरूणा राय व लोकपाल विधेयक से जुड़ा अन्ना हजारे के नाम का जिक्र इस बात को समझाने के लिए पर्याप्त है कि जन-सहभागिता किस तरह से जन आंदोलन बनती है।

स्वयं सेवी संस्थाओं को आर्थिक सहयोग सदस्यों की सदस्यता शुल्क से, प्राइवेट डोनेशन से व संस्था के उत्पाद बिक्री से मिलता है। स्वयं सेवी संस्थायें परोपकारी संस्था की हैसियत से सेवा कार्य करती है।

स्वैच्छिक अभिकरण एक ऐसा शब्द है जो बिना किसी सरकारी भागीदारी या प्रतिनिधित्व के साथ प्राकृतिक या कानूनी व्यक्तियों के द्वारा बनाए गए विधिवत संगठित गैर-सरकारी संगठनों को संदर्भित करने के लिए व्यापक रूप में स्वीकार किया गया है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय स्वैच्छिक अभिकरण की संख्या 40000 है। भारत में 35 लाख के आसपास स्वैच्छिक अभिकरण के होने का अनुमान है।

सामुदायिकता की भावना मानव समाज की सबसे बड़ी विशेषता है। इसकी शुरूआत देश की प्रतिष्ठित स्वैच्छिक संस्थाऐं, जैसे- सेल्फ एम्पलाइड वीमेन एसोसिएशन के जरिए हुई है। यह समान सामाजिक और आर्थिक स्तर वाले एक जैसे सूक्ष्म उद्यमियों का ऐसा समूह है जिसमें लगभग 10-20 सदस्य होते हैं। हाल के वर्षों में स्वयं सेवी संस्थाओं ने एक परिवर्तन कारक के रूप में उभर कर समाज के कई हितों में योगदान दिया है।

स्वयं सेवी संस्थाओं की शुरूआत प्राचीन काल से हुई थी। अंतर्राष्ट्रीय स्वयं सेवी संस्थाओं की शुरूआत 1839 से मानी जाती है। रोटरी इंटरनेशनल को सन् 1905 में स्थापित किया गया था। पश्चिमी देशों में स्वयं सेवी संस्थाओं का विकास कल्याणकारी राज्य के पुनर्गठन की प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप हुआ। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कई सारे स्वयं सेवी संस्थायें हैं जैसे- एमनेस्टी इंटरनेशनल, ह्यूमन राइट्स वाच, ग्रीनपीस, ट्रांसपैरेंसी इंटरनेशनल आदि। स्वैच्छिक अभिकरण हाशिए पर और वंचित समुदायों के लिये आपदा राहत से लेकर समर्थन तक के विभिन्न क्षेत्रों में काम कर रहे हैं। भारत जैसे विकासशील देश में भूमिका और जिम्मेदारियाँ बहुत अधिक हैं। स्वयं सेवी संस्थायें सरकार के कार्यक्रमों में खामियों को दूर करने का प्रयास करते हैं और उन लोगों तक पहुँचते हैं जो अक्सर राज्य की परियोजनाओं से अछूते हर जाते हैं। उदाहारण के लिए कोविड- 19 के इस संकट की घड़ी में वंचितों, प्रवासी श्रमिकों आदि को सहायता प्रदान करना। इसके अलावा वे मानव और श्रम अधिकारों, लैंगिक मुद्दों, स्वास्थ्य देखभाल, पर्यावरण, शिक्षा, कानूनी सहायता और यहाँ तक कि अनुसंधान से संबंधित विविध गतिविधियों में लगे हुए हैं।

8.4 स्वैच्छिक अभिकरणों की विशेषताऐं

स्वैच्छिक अभिकरणों की निम्नलिखित विशेषताऐं हैं-

1. स्वैच्छिक अभिकरण सरकारी संगठनों की कार्यशैली एवं संरचना से भिन्न होते हैं, इनके सदस्यों के बीच अनौपचारिक सम्बन्ध होता है। अनौपचारिक सम्बन्धों और कार्यप्रणाली में स्वायत्तता के कारण इन संगठनों की सामाजिक कल्याण में विशिष्ठ आवश्यकता है। नौकरशाही, लालफीताशाही एवं नियम-कानूनों से मुक्त ये संगठन अपनी कार्य-संस्कृति को आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर सकते हैं।
2. स्वैच्छिक अभिकरणों के निर्माण में सरकारी प्रयासों की अपेक्षा कुछ व्यक्तियों की इच्छा ही सबसे निर्णायक होती है। इसकी विशेषताओं के तहत इसका निर्माण अक्सर जन-कल्याण के लिए किया जाता है।
3. इस स्वैच्छिक अभिकरण का संचालन ''लाभ-हानि से परे'' के आधार पर किया जाता है। इन स्वैच्छिक संगठनों का कार्य-क्षेत्र भौगोलिक एवं सामाजिक क्षेत्र के एक सीमित दायरे में होता है।
4. इन अभिकरणों द्वारा संचालित कार्यक्रमों को सामाजिक मान्यता तथा समुदायिक सहयोग मिलता है। इसकी वित्तीय व्यवस्था सरकार तथा जनता द्वारा पूरी होती है।
5. स्वैच्छिक अभिकरणों का निर्माण स्वेच्छा से व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। इनके निर्माण के पीछे सरकारी प्रयासों के बजाय व्यक्तियों की स्वप्रेरणा उत्तरदायी होती है।

6. इसका एक औपचारिक संगठन होता है। इन संगठनों में ''शीर्ष प्रशासनिक सत्ता'' के रूप में सामान्य सभा या आम सभा होती है, जिसमें उस संगठन के वरिष्ठ पदाधिकारी दानदाता या महत्वपूर्ण व्यक्ति रखे जाते हैं, जो संगठन के नीति-निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

8.5 स्वैच्छिक अभिकरणों की भूमिका

आजादी के बाद देश की अर्थव्यवस्था को संचालित करने में सरकारी एवं सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका महत्वपूर्ण मानी गई थी किंतु विगत छह दशकों में सार्वजनिक क्षेत्र के बराबर घाटे में जाने तथा राजकीय क्षेत्र के भ्रष्ट और अकर्मण्य होते जाने से जो स्थितियाँ सामने आई हैं उसमें पिछले दो दशकों से आर्थिक सुधारों के नाम पर सरकारी एवं सार्वजनिक क्षेत्र को क्रमश: सीमित किया जाता रहा है, साथ ही सरकार के एवं सार्वजनिक क्षेत्र के विभिन्न कार्यों में स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका को महत्व दिया जाने लगा है। इस प्रकार सरकार + समाज + स्वैच्छिक संगठन संयुक्ति अनेक दृष्टियों से उपादेय माने जाने लगी है। इसीलिए 21वीं शताब्दी में स्वैच्छिक संगठनों के विकास एवं दायित्व पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

स्वयंसेवी या स्वैच्छिक संगठन व्यक्तियों का ऐसा समूह होता है जिन्होंने स्वयं को एक विधि-समूह निकाय के रूप में संगठित कर लिया है, ताकि वे संगठित कार्यक्रमों के माध्यम से सामाजिक सेवाएं प्रदान कर सकें। लॉर्ड बिवरिज के शब्दों में, 'ठीक से कहें तो स्वयंसेवी संगठन ऐसा संगठन होता है जिसका कार्य-आरम्भ और संचालन इसके सदस्यों द्वारा बिना बाहरी हस्तक्षेप के होता है, चाहे उसके कार्यकर्ताओं को वेतन दिया जाता हो या नहीं।' ऐसे संगठनों का एक संगठनात्मक व्यक्तित्व होता है। ये अपनी ही पहल पर अथवा बाहर से प्रेरित होकर लोगों के समूह द्वारा किसी स्थान विशेष में एक स्वावलंबी ढंग से गतिविधियाँ संचालित करते हैं, उनकी जरूरतें पूरी करते हैं, सार्वजनिक क्षेत्र की प्रसार-सेवाओं को एक-दूसरे के करीब लाते हैं तथा समाज के कमजोर वर्गों के न्यायोचित और प्रभावी विकास को अंजाम देते हैं।

8.5.1 आर्थिक-सामाजिक विकास के क्षेत्र में स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका

आर्थिक-सामाजिक विकास के क्षेत्र में पिछले छह दशकों में सरकारी एजेंसियों का जाल बिछ गया है। शिक्षा, स्वास्थ्य, महिला एवं बाल विकाससार्वजनिक निर्माण विभाग, पशुपालन कृषि उद्योग आदि के क्षेत्रों में राजकर्मी लोक-विकास के लिए नियुक्त हैं, इसके बावजूद अकर्मण्यता और भ्रष्टाचारों के कारण एक-से-एक उत्कृष्ट योजनाएं क्रियान्वयन में असफल हो रही हैं। राजकर्मियों का जनता को शोषित करने, परेशान करने का संबंध अधिक स्थापित है। राजकीय सेवाओं में मिशन की भावना तो दूर, सहज कार्यसंपादित करने की व्यावसायिक दृष्टि एवं कौशल भी नहीं है। वस्तुत: देश ने आजादी के बाद हमारे प्रशासन-तंत्र के लगातार प्रसार के बावजूद उसके निकम्मा और भ्रष्ट साबित होने की त्रासदी को भोगा है और अब न केवल जनता बल्कि स्वयं सरकार भी तंत्र की भूमिका को लेकर निराश और चिंतित है। ऐसी पृष्ठभूमि में स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका सामाजिक विकास के केंद्र में आती जा रही है। देश में कुछ स्वैच्छिक संगठनों ने न केवल भौतिक उपलब्धियों को लेकर बल्कि कार्य-प्रक्रियाओं को लेकर इतना मौलिक और उत्कृष्ट कार्य किया है कि उससे सरकारी क्षेत्र विस्मित है तथा उसका राजकीय सेवाओं में अधिक से अधिक सहयोग लेने का प्रयास किया जा रहा है।

8.5.2 समाज के विकास में स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका

स्वैच्छिक संगठन समाज के विकास में, विशेष रूप से समाज के वंचित वर्ग में उत्प्रेरक अभिकर्ता के रूप में काम करते हैं। ये संगठन गरीब लोगों की समस्याओं के समाधान में प्रभावी होते हैं। सरकार द्वारा उपलब्ध योजनाओं का लाभ गरीब लोगों तक नहीं पहुंच पाता, किंतु स्वयंसेवी संगठन इन योजनाओं से संबंधित कर्मचारियों से जुड़कर

जनता में जागरूकता पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, ये विकास-प्रक्रिया में साईंय भागीदारी निभाते हैं। प्रत्येक योजना, उसके उद्देश्य, अपेक्षित लाभ, कार्य-प्रणाली आदि के बारे में भली प्रकार समझ सकते हैं। ये लाभार्थियों के सही चुनाव करने में भी भूमिका निभाते हैं।

8.5.3 राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विकास में भूमिका

देश में कई स्वैच्छिक संगठन कार्य कर रहे हैं और राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विकास की भूमिकाएँ निभा रहे हैं। विकासशील देशों में जहाँ सरकारें एवं नौकरशाही योजनाओं को क्रियान्वित करने में असफल रही हैं वहाँ स्वैच्छिक संगठनों की मदद की सर्वत्र बढ़ती जा रही है। भारत में भी शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि उद्योग, महिला एवं बालविकास आदि क्षेत्रों में स्वैच्छिक संगठन केंद्र एवं राज्य सरकारों के साथ मिलकर प्रभावी भूमिका निभा रहे हैं। देश में एक ओर सहकारी संगठन सार्वजनिक क्षेत्रों में सरकार की मदद कर रहे , वहीं अब सहकारी संगठनों के भ्रष्टाचार एवं अकर्मण्यता से भिन्न स्वैच्छिक संगठन सार्वजनिक क्षेत्र के विभिन्न क्षेत्रों में नए-नए प्रयोग और योजना-क्रियान्वयन का कार्य कर रहे हैं। राजस्थान में SWRC (तिलोनिया), विज्ञान आश्रम, (पूना), मरुगप्पा चेतियार रिसर्च सेंटर, (चेन्नई)मित्रनिकेतन, (तिरुअनंतपुरम), हिमालयन इन्वाइनमेंटल स्टडीज एण्ड कंजर्वेशन ऑर्गेनाइजेशन (देहरादून), सारथी, पंचमहल(गुजरात), बोध, दिगंतर संधान, (जयपुर) भारत सेवक संघ (अलवर) एकलव्य (मध्यप्रदेश) आदि स्वैच्छिक संगठन दशकों से सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी पहचान स्थापित कर चुके हैं।

किन्तु सरकारी कर्मचारियों एवं गैर-सरकारी व्यक्तियों की निहित स्वार्थपरता ने विदेशी एवं देशी अर्थ स्रोतों का दोहन करने के लिए बहुत बड़ी संख्या में स्वैच्छिक संगठन खड़े हो गए हैं और होते जा रहे हैं जो अपने मूल उद्देश्य में तो निजी स्वार्थ को साध रहे हैं और आडंबर एक स्वैच्छिक संगठन का है। ऐसे सभी संगठन स्वैच्छिक सामाजिक कार्य संस्कृति को नष्ट कर रहे हैं। सरकार एवं स्वैच्छिक संगठनों को मिलकर ऐसे भ्रष्ट स्वैच्छिक संगठनों के कारनामों को उजागर करते रहना चाहिए ताकि स्वैच्छिक को उजागर करते रहना चाहिए ताकि स्वैच्छिक संगठन के विकास की स्वस्थ प्रक्रिया बांधित न हो। स्वैच्छिक संगठन सामाजिक विकास की माँग के स्वाभाविक प्रतिफल हैं। वे समाज के प्रति अधिक संवेदनशील हैं, समाज की सर्जनात्मक ऊर्जा को बेहतर ढंग से नियोजित कर सकते हैं, वे सरकार और समुदाय के बीच रचनात्मक कड़ी बन सकते हैं। अब सरकारी तंत्र के बराबर सीमित होते जाने की स्थितियों में स्वैच्छिक संगठनों की जरूरत एवं दायित्व दोनों बढ़ते जा रहे हैं। भारत में स्वैच्छिक संगठन समुदाय के साथ अपनी भागीदारी को अधिक व्यापक, जीवंत एवं सृजनशील बनाएँगे, ऐसी संभावना है। जल-संग्रहण के लिए भी अनेक संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। ये संस्थाएँ स्थानीय लोगों का सहयोग लेकर वर्षा जल को एकत्रित करने की व्यवस्था करने में महत्वपूर्ण योगदान कर रही हैं। बायफ संस्था ने कुछ क्षेत्रों में रोजगार की दृष्टि से लोगों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए कृषि का विकास किया है। पशुपालन में भी मदद की है, जिससे लोग आत्मनिर्भर बने हैं।

नागरिकता संस्थान विद्या भवन सोसायटी ने पंचायतीराज के क्षेत्र में जनप्रतिनिधियों को आवासीय प्रशिक्षण देकर इस दिशा में एक नया अध्याय जोड़ा है। यदि हम जनप्रतिनिधियों को सशक्त करते हैं तो वे ग्रामीण विकास में महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। फिर चाहे वे अशिक्षित महिलाएँ हों, आदिवासी या अन्य सभी प्रशिक्षण प्राप्त करके पंचायतीराज के स्वप्न को साकार कर सकते हैं।

भारत सरकार द्वारा वर्ष 2005 में सूचना का अधिकार कानून लागू किया गया। इस कानून को बनवाने में स्वयंसेवी संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

8.6 स्वैच्छिक अभिकरणों की कार्यशैली

सफल रहने वाली संस्थाओं की प्रमुख विशेषता होती है- उनकी कार्यशैली एवं प्रभावी व्यूहरचना। ये लोग संस्थाओं के कार्यकर्ताओं के चयन में पहली शर्त यही रखते हैं कि उन्हें गाँवों में कार्य करना होगा। उन्हें लोगों की

बोलचाल की भाषा जानना जरूरी है और उन्हें स्थानीय रीति-रिवाज व संस्कृति में घुल-मिल कर कार्य करना होगा। यहाँ समानता का व्यवहार रखकर कार्य किया जाता है। संस्था में सभी का उठना-बैठना, खाना-पीना एक समान रहता है। समय-समय पर बैठकें आयोजित कर अपनी सफलताओं पर कम परन्तु असफलताओं पर ज्यादा बातचीत करते हैं। बातचीत के आधार पर नये रास्ते तलाश करके उसकी कार्यप्रणाली विकसित करते हैं। नयी पद्धति पर कुछ कार्य कर लेने के बाद पुनः विचार करके उनमें आवश्यक संशोधन करते हैं। इतना लचीलापन राजकीय संस्थाओं में नहीं होता है। हालाँकि उनके पास साधनों एवं सूचनाओं का भण्डार रहता है। ये संस्थाएँ स्वयं लोगों के पास पहुँचकर कार्य करती हैं। राजकीय एवं स्वयंसेवी संस्थाओं की कार्यशैली के इस अन्तर से ही आज स्वयंसेवी संस्थाओं की साख बढ़ती जा रही है। उनके पास व्यावसायिक नेटवर्किंग है। इन संस्थाओं ने युवाओं के लिए आजीविका के नये मार्ग खोल दिए हैं। उनके साथ इंजीनियर, वकील, प्रबन्धन से जुड़े लोग, स्नातक, तकनीकी शिक्षा प्राप्त युवा सभी हैं। ये लोग शोध एवं डॉक्युमेण्टेशन को विकास प्रक्रिया में अनिवार्य मानकर कार्य करते हैं। इस प्रकार स्वयंसेवी संगठन एक तरफ सामाजिक-आर्थिक विकास का कार्य कर रही हैं, वहीं मनोवैज्ञानिक स्तर पर लोगों को अपने अधिकारों के प्रति ज्यादा संवेदनशील बनाती हैं। साथ ही समाज और सरकार के बीच समन्वय भी स्थापित करती हैं। संस्थाओं के कार्यकर्ता भी आज शिक्षित एवं नये सूचना माध्यमों और तकनीक से लैस हैं। इन्हीं कारणों से संस्थाओं की व्यूह-रचना कामयाब रहती है।

ऐसी अनेक जनोपयोगी योजनाएँ हैं, जिन्हें स्वयंसेवी संस्थाएँ सुचारू रूप से अंजाम देती हैं। इसमें स्वयंसेवी संस्थाओं की लोगों में पैठ एवं प्रभावी संचार प्रणाली का योगदान होता है। संस्थाओं के अधिकांश लोग सेवा भाव से प्रेरित होकर समाजोपयोगी कार्य करते हैं। परिणामस्वरूप ये लोग जनसहयोग और जनसहभागिता के माध्यम से जनसम्पर्क बढ़ाकर गरीब, पिछड़ों एवं जरूरतमन्दों को राहत पहुँचाते हैं। इन संस्थाओं के व्यवहार एवं कार्यप्रणाली में लचीलापन आ जाता है। ये अपनी कार्यप्रणाली एवं नीतियों में समय-समय पर परिवर्तन कर सफलता प्राप्त करते हैं।

अन्ना हजारे की भ्रष्टाचार विरोधी जनलोकपाल मुहिम और उसमें शामिल संगठनों ने और कुछ किया हो या न किया हो, लेकिन स्वैच्छिक संगठनों को लोकतंत्र में एक सशक्त जनमंच के बतौर काफी ताकत और केंद्रीयता जरूर दिला दी है। गए बरसों में इन संगठनों का दायरा धीमे-धीमे बहुत व्यापक और विविधतामय बनता गया है। आज उसकी परिधि में इला भट्ट के द्वारा स्थापित 'सेवा' या राजस्थान के 'सेवा मंदिर' सरीखे समाजसेवी संगठनों के अलावा शहर-गांवों के कई गैर-मुनाफा संस्थान, शहरी आवासीय कॉलोनियों के आरडब्ल्यूए समूह तथा अन्ना की टोली में शामिल सिविल समाज संगठन भी शामिल हैं। और अगर विशुद्ध पंजीकरण की कसौटी पर परखें, तब तो क्रिकेट संगठन बीसीसीआई भी एक स्वायत्त संस्था ही ठहरता है।

केन्द्रीय आंकड़ा कार्यालय (सीएसओ) के 2009 के आंकड़ों के अनुसार भारत के विभिन्न राज्यों में तकरीबन 33 लाख स्वैच्छिक संगठन तरह-तरह के विषयों पर काम कर रहे हैं। उसके अनुसार इनकी तादाद में पिछले 12 वर्षो में 194 फीसदी की बढ़ोतरी हुई है। अब आम लोग इन संगठनों की ताकत और जनता तक सीधी पहुंच का महत्व भले ही न भांप पाए हो, लेकिन हर विचारधारा वाले राजनीतिक दल उसे बखूबी समझते हैं। यही वजह है कि सरकारों की नीयत या नीति को बारंबार चुनौती देने वाले इस तबके को सबसे अधिक वित्तीय मदद सरकार ही दे रही है।

सिर्फ स्वैच्छिक सिविल संगठनों की मार्फत भारत में मौजूदा तंत्र को सफलतापूर्वक सिर के बल खड़ा कर उसे नितांत समाजवादी या धुर वामपंथी बनाया जा सकता है, इसकी उम्मीद तो शायद समाजवादियों या वामपंथियों को भी नहीं होगी। लेकिन पुरानी आदत के तहत अधिकतर स्वैच्छिक संगठन भी सरकार को राजकाज के विशालतम लीवर की बजाय जनशत्रु की भूमिका में ही देखते-दिखाते हैं और बदलाव की बड़ी-बड़ी बातें करने के बावजूद आर्थिक सुधारों व उदारीकरण पर सरकार से सहकार करने से बिदकते हैं। क्या सत्ता के बाहर खड़े होकर,

यथास्थिति भी नहीं और बदलाव भी नहीं, और लोकतंत्र, संविधान या संसद सब भ्रष्ट हैं, का शोर उठाते संगठनों में इतनी एकता और क्षमता है कि शून्य को वे खुद भर सकें? अभी तो चुनाव लड़ने, न लड़ने के बुनियादी सवाल पर ही अन्ना आंदोलन दो-तीन फाड़ हो गया।

जन लोकपाल आंदोलन, काला धन विरोधी मुहिम और भ्रष्टाचार विरोधी (अनाम) पार्टी द्वारा जनता में क्रांतिकारी बदलाव को लेकर जो विसंगतियां लगातार उजागर हुई हैं, उनका प्रतिकार जरूरी है। फिलवक्त कम से कम तीन ऐसी गैरसरकारी संस्थाएं हैं भी ('गिव इंडिया', 'गाइड स्टार इंडिया' और 'क्रेडिबिलिटी एलायंस') जो इच्छुक स्वैच्छिक संगठनों के लिए उनके कामकाज, उनके कुल जमा खर्चे, उनके सांगठनिक ढांचे और नियमानुसार कार्य करने की क्षमता की नियमित वैज्ञानिक पड़ताल करती आई हैं। बहुत अच्छा हो कि 'कैग' की रपट लहराकर सरकार से लोकपाल बिठाने की जिद करने वाली हर जनसंस्था खुद भी इस तरह की साफ-सुथरी बाहरी मूल्यांकन संस्थाओं से अपने खर्चे-पानी तथा दशा-दिशा का भी नियमित और तटस्थ ऑडिट कराए। सिर्फ 'मंत्री लोग झूठे हैं, सरकार निकम्मी है, सारे सांसद भ्रष्ट हैं' का विधवा विलाप करते जाना बेकार है और एक हद के बाद जनता उससे कुढ़ने लगती है।

हाल के समय में जहाँ स्वैच्छिक संस्थाओं की संख्या बहुत बढ़ी है, वहीं स्वैच्छिक कार्य की गरिमा और सार्थकता बनाए रखने वाली इस पहचान की उपेक्षा हुई है। आज इस क्षेत्र में मुख्य चुनौती यही है कि स्वैच्छिकता की मूल भावना को सशक्त कर, इसे अधिक व्यापक बनाकर इस क्षेत्र की गरिमा और मर्यादा की रक्षा की जाए। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस वर्ष को स्वैच्छिक कार्य का अंतर्राष्ट्रीय वर्ष घोषित किया है। इस मौके पर इन संगठनों के जीवन में झांकना और भी जरूरी हो जाता है। सामाजिक सरोकारों से जुड़ने के लिए कुछ लोग अपनी आय और संपत्ति का कुछ भाग देने के लिए तैयार रहते हैं, जबकि कुछ अन्य लोग सामाजिक कार्य के लिए अधिक सक्रिय रूप से संस्था या संगठन बनाकर (या कभी-कभी व्यक्तिगत रूप से ही) आगे आते हैं। ये संगठन उन श्रमिक या कर्मचारी संगठनों से कुछ अलग हैं जो अपने सदस्यों के लिए ट्रेड यूनियन के कानूनी दायरे में काम करते हैं। ये संगठन उन संगठनों से भी अलग हैं जो किसी विशेष धर्म या संप्रदाय के विचारों व हितों को आगे बढ़ाने के लिए बनाए जाते हैं। इस तरह के एक पक्षीय संगठनों के जो सरोकार होते हैं उसके अतिरिक्त निरंतर जटिल होरहे समाज की कितनी ही समस्याएं हैं, जो केवल व्यक्तिगत स्तर पर नहीं सुलझ सकती हैं। अब तो अधिकांश देशों की सरकारें भी यह मानने लगी हैं कि ऐसे अनेक मुद्दे हैं जिनमें विशेष साहस, संवेदनशीलता, करुणा, बारीकियों पर ध्यान देने, धैर्य और तरह-तरह के प्रयोग कर राह निकालने की आवश्यकता होती है।

संस्था को पारदर्शी और उस समुदाय के प्रति पूरी तरह जवाबदेह होना चाहिए जिसके बीच वह कार्यरत है तथा जिनकी भलाई के लिए उसे आर्थिक सहायता प्राप्त होती है।यदि कोई संस्था पांच गांवों में काम कर रही है तो इन गाँवों के लोगों को संस्था के कार्य, बजट, प्राथमिकता के बारे में आसानी से जानकारी उपलब्ध हो तथा इस बारे में उनके विचार जानने का संस्था निरंतर प्रयास करे। जिन गाँवों में कुछ बड़े भूस्वामी या ठेकेदार उस गरीब वर्ग के विकास में बाधक हैं जिसकी सहायता स्वैच्छिक संस्था करना चाहती है, तो इन बड़े भू स्वामियों के प्रति प्रति जिम्मेदार होना स्वैच्छिक संस्था के लिए जरूरी नहीं है।

स्वैच्छिक अभिकरण को अपनी आय और व्यय को सार्वजनिक जांच के लिये खुला रखने की आवश्कता है। हालाँकि किसी स्वयं सेवी संस्था की विश्वसनीयता का निर्धारण धन के स्त्रोत, देशी या विदेशी के पैमाना के विरूद्ध नहीं किया जा सकता है। साथ ही सरकार को यह महसूस करना चाहिए कि राष्ट्रीय सीमाओं के पार विचारों और संसाधनों का सहज आदान-प्रदान वैश्विक समुदाय के कामकाज के लिए आवश्यक है और इसे तब तक हतोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि यह मानने का कारण न हो कि धन का उपयोग अवैध गतिविधियों में सहायता के लिये किया जा रहा है। स्वयं सेवी संस्थाओं के संबंध में कई मुद्दों पर खामियाँ भी देखी गई हैं, जैसे- विश्वसनीयता में कमी, पारदर्शिता की कमी, विकास संबंधी गतिविधियों में खामियाँ। भारत के

इंटेलिजेंस ब्यूरो की एक रिपोर्ट ने ग्रीनपीस, कार्डैंड, एमनेस्टी और एक्शन एड जैसे स्वयं सेवी संस्थाओं पर भारत के सकल घरेलू उत्पाद को 2-3 प्रतिशत प्रतिवर्ष कम करने का आरोप लगाया है।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत सरकार की कौन सी एजेंसी स्वैच्छिक संगठनों के संयोजन को लेकर महत्वपूर्ण कार्य कर रही है?
2. भारत में लगभग कितने स्वैच्छिक अभिकरण हैं?
3. अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय स्वैच्छिक अभिकरणों की संख्या कितनी है?
4. अंतर्राष्ट्रीय स्वयंसेवी संस्थाओं की शुरूआत कब हुई?
5. सूचना का अधिकार कानून कब लागू किया गया?

8.7 सारांश

स्वैच्छिक संगठन मूलत: जनहित में किन्हीं निश्चित लक्ष्यों को लेकर कार्य करते हैं तथा लाभ की प्रवृत्ति से रहित सामाजिक विकास की प्रक्रिया को मजबूत करने हेतु सृजनशीलता और तन्मयता के साथ एक संगठन के रूप में कार्य करते हैं। स्वैच्छिक संगठन व्यक्तियों का ऐसा समूह होता है जिन्होंने स्वयं को एक विधि-समूह निकाय के रूप में संगठित कर लिया है, ताकि वे संगठित कार्यक्रमों के माध्यम से सामाजिक सेवाएं प्रदान कर सकें।

स्वैच्छिक अभिकरण व्यावसायिक उद्देश्यों से परे रहकर मानवीयता और सहकारिता की भावना पर चलने वाला एक समूह होता है जो स्वतंत्र कार्य करता है और सीधे सरकारी नियंत्रण में नहीं होता है। स्वैच्छिक अभिकरण बहुत हद तक लोगों को सहायता प्रदान करने में सफल हुए हैं। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि कोई भी विकास कार्यक्रम तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उनमें वे लोग शामिल न हों, जिसके लिए वे चलाए जा रहे हैं। ऐसे कार्यों को स्वयंसेवी संगठन अच्छी तरह से अंजाम दे रहे हैं। देश में कुछ स्वैच्छिक संगठनों ने न केवल भौतिक उपलब्धियों को लेकर बल्कि कार्य-प्रक्रियाओं को लेकर इतना मौलिक और उत्कृष्ट कार्य किया है कि उससे सरकारी क्षेत्र विस्मित है तथा उसका राजकीय सेवाओं में अधिक से अधिक सहयोग लेने का प्रयास किया जा रहा है। स्वैच्छिक संगठन समाज के विकास में, विशेष रूप से समाज के वंचित वर्ग में उत्प्रेरक अभिकर्ता के रूप में काम करते हैं। ये संगठन गरीब लोगों की समस्याओं के समाधान में प्रभावी होते हैं। देश में स्वैच्छिक संगठन कार्य कर रहे हैं और राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विकास की भूमिकाएँ निभा रहे हैं।

8.8 शब्दावली

स्वयं सेवी या स्वैच्छिक संगठन- खुद से या स्वेच्छा से कार्य करने वाले संगठन, सूत्रपात और क्रियान्वयन- किसी चीज की शुरूआत और कार्य करना, अकर्मण्यता- कार्य न करना या कार्य से जी चुराना, वंचित वर्ग- समाज का वो वर्ग जिसे किसी भी प्रकार की सरकारी सुविधाएं प्राप्त न होना, वैश्विक समुदाय- विश्व स्तर का समुदाय

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. कपाट, **2.** 35 लाख, **3.** 40 हजार, **4.** सन् 1839, **5.** सन् 2005

8.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. एन0जी0ओ0 हैंड बुक, नाबी बोर्ड ऑफ एडिटर, लखनऊ, ईस्टन कंपनी।
2. भारत में समाज कल्याण प्रशासन, डी0 आर0 सचदेवा, किताब महल, इलाहाबाद।
3. बी0 एम0 कुलकर्णी, वोलेंटरी एक्शन इन ए डेपलपिंग सोसाईटी।
4. एच0 आर0 चतुर्वेदी, रोल ऑफ वोलेंटरी आर्गनाईजेशन इन रूरल डेवलपमेंट।

5. सामाजिक कल्याण प्रशासन, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।

8.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. बी0 एम0 कुलकर्णी, वोलेंटरी एक्शन इन ए डेपलपिंग सोसाईटी।
2. एच0 आर0 चतुर्वेदी, रोल ऑफ वोलेंटरी आर्गनाईजेशन इन रूरल डेवलपमेंट।
3. एन0जी0ओ0 हैंड बुक, नाबी बोर्ड ऑफ एडिटर, लखनऊ, ईस्टन कंपनी।

8.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्वैच्छिक अभिकरण को समझाते हुए इसकी आवश्यकता और कार्यशैली पर प्रकाश डालिए।
2. स्वैच्छिक अभिकरण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसकी विशेषताओं और भूमिका की व्याख्या कीजिए।

इकाई- 9 सहकारिता और विकास

इकाई की संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 सहकारिता की अवधारणा
9.3 सहकारिता का अर्थ और परिभाषा
9.4 सहकारिता के उद्देश्य
9.5 सहकारिता के प्रकार
    9.5.1 सहकारी कृषि
    9.5.2 सहकारी विपणन
    9.5.3 सहकारी औद्योगिक संघ
    9.5.4 सहकारी उपभोक्ता संघ
    9.5.5 सहकारी उत्पादक संघ
9.6 सहकारिता और विकास
9.7 सहकारिता और पंचायती राज संस्थाएं
9.8 सारांश
9.9 शब्दावली
9.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.13 निबन्धात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

सहकारिता की शुरूआत 19वीं शताब्दी में ग्रेट ब्रिटेन में एक आंदोलन के रूप में हुई। राबर्ट ओवेन जैसे आर्थिक-सामाजिक सुधारकों ने सहकारिता के विचार को ठोस शक्ल देने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। वर्तमान में अनेक आर्थिक गतिविधियों को सहकारिता के आधार पर आसानी से और दक्षतापूर्वक चलाया जा रहा है जिससे विकास के कई मार्ग उजागर हुए हैं जैसे- उपभोक्ता सहकारिता, ऋण सहकारिता, कृषि सहकारिता, सेवा सहकारिता, कर्मकार सहकारिता आदि।

सहकारिता स्वयं सहायता, स्व-उत्तरदायित्व, प्रजातंत्र, समानता, साम्यता और एकता के मूल्यों पर आधारित है। सहकारिता की नींव रखने वालों की परंपरा में सहकारी संस्थाओं के सदस्य ईमानदारी, खुलेपन, सामाजिक जिम्मेदारी और अन्य लोगों का ध्यान रखने जैसे नैतिक मूल्यों में विश्वास रखते हैं। सहकारिता की अवधारणा के साथ अनेक आधारभूत मूल्य जुड़े हैं जैसे-स्वयं सहायता, स्व-उत्तरदायित्व, प्रजातंत्र, समानता, साम्यता और एकता। इसके साथ ही इसमें कुछ नैतिक मूल्य भी निहित हैं जैसे- ईमानदारी, खुलापन, सामाजिक जिम्मेदारी और दूसरों का ध्यान रखना आदि।

विश्व के किसी भी देश के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास को समझने के लिए उस देश के सहकारिता के इतिहास को समझना होगा। सहकारिता न केवल विकासशील समाजों में बल्कि पाश्चात्य और समाजवादी समाजों में भी विकास के एक प्रमुख साधन के रूप में उभर कर सामने आया है। सहकारी या सहकारिता के माध्यम

से किसी भी समाज और व्यक्ति की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। इसलिए सहकारिता या सहकारी आन्दोलन ने पूरे विश्व में एक शक्तिशाली प्रणाली के रूप में उभरा है। भारत में सहकारिता का इतिहास ''को आपरेटिव क्रेडिट सोसायटी एक्ट के साथ सन् 1904 में प्रारम्भ हुआ। भारत में सहकारिता का विशेष बल ग्रामीण क्षेत्रों में ऋण उपलब्ध कराने पर है। वर्तमान में मत्सय उद्योग, परिवहन उद्योग, दुग्ध डेरी योजना तथा उपभोक्ता इत्यादि में सहकारी व्यवस्था है। तथा हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में सहकारिता मौजुद है।

स्वतंत्रता के बाद पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारिता को एक प्रमुख भूमिका दी गयी। जैसे तीसरी पंचवर्षीय योजना में कहा गया कि लोकतांत्रिक एवं समाजवादी महत्व के आर्थिक जीवन के अनेक शाखाओं विशेषकर लघु उद्योग, कृषि और लघु सिचाई, वितरण, आपूर्ति, ग्रामीण विद्युतिकरण और स्थानीय लोगों के लिए आवश्यक सुख-सुविधाओं का प्रबंध करने में सहकारिता मुख्य आधार है। इस प्रकार सहकारिता का क्षेत्र किसान, मजदूर और उपभोक्ता की आवश्यकताओं पर विशेष जोर के साथ सामाजिक स्थिरता, रोजगार के अवसर और तीव्र आर्थिक विकास के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता बन गया है। भारत में सहकारिता संगठन तीन लाख से अधिक समितियों और करोड़ों सदस्यों के साथ विश्व की सबसे बड़ी सहकारी संगठन है।

इस इकाई में हम सहकारिता की अवधारणा उसके अर्थ, प्रकार और सहकारिता तथा विकास का अध्ययन करेंगे।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- सहकारिता की अवधारणा को समझ पायेंगे।
- सहकारिता क्या है, इससे परिचित हो पायेंगे।
- सहकारिता के प्रतिमान और प्रकारों को जान पायेंगे।
- सहकारिता और विकास के बीच संबंधों को जान पायेंगे।

9.2 सहकारिता की अवधारणा

सहकारिता मनुष्य के जीवन के प्रारम्भिक काल से ही मौजुद रही है। किन्तु आदिम समाजों में मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं के कारण सहकारिता की आवश्यकता सीमित थी। मानव समाज में अपने प्रारम्भिक समय में सहकारिता धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों तक ही था, जिस कारण यह मानव समाज का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। सहकारिता की अवधारणा में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक बहुत बड़े परिवर्तन हुए हैं। समय के साथ-साथ व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं में वृद्धि हुई है। आज मनुष्य प्रकृति और अपनों पर निर्भर है और परस्पर निर्भरता उसके जीवन का एक अंग बन गया है।

सहकारिता की आधुनिक अवधारणा औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम है। जो यूरोप और विशेष रूप से ग्रेट ब्रिटेन में उत्पादन की विधि के में कई श्रंखलाओं में परिवर्तन लाया। औद्योगिक क्रान्ति समाज को दो भागों मजदूर और पूंजीपति वर्ग में विभाजित करने का मार्ग प्रशस्त किया। यह विभाजन पूंजीपतियों ने अधिक लाभ कमाने के लोभ के कारण मजदूरों का शोषण करना प्रारम्भ कर दिया। कारखाना मालिकों द्वारा मजदूरों को कम मजदूरी देने के साथ-साथ अमानवीय व्यवहार भी किया जा रहा था। इस काल-समय में 'रावर्ट ओन(1771-1859) जैसे समाज सुधारक ने एक नये विचार और दर्शन का प्रतिपादन किया, जिसने अन्त: सहकारी आन्दोलन को जन्म दिया। रावर्ट ओन एक ब्रिटिश उद्योगपति थे, किन्तु उनके अंदर मानवीय संवेदनाऐं और परोपकार की भावना थी जिसने सहकारी आन्दोलन को जन्म दिया और वे सहकारी आन्दोलन के जन्मदाता बन गये।

सहकारी आन्दोलन एक आर्थिक अवधारणा है। इसकी प्रकृति औपचारिक है। यह व्यापारिक और व्यवसायिक कार्य का एक अलग रूप है, जिसमें लोगों की प्रमुखता और आधिपत्य रहता है जबकि धन का स्थान गौण रहता है। इस प्रकार सरकारी आन्दोलन आर्थिक तौर पर पिछड़े वर्ग के लोगों को एक सही दिशा प्रदान करने के लिए एक मौका देता है।

9.3 सहकारिता का अर्थ और परिभाषा

सहकारिता परस्पर सहयोग के माध्यम से सामूहिक और व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने की मूल भावना पर आधारित है। कोई भी कार्य जो पारस्परिक लाभ के लिए मिलजुल कर किया जाए, सहकारिकता की परिधि में रखा जा सकता है। उत्पादन, क्रय, विक्रय या वितरण आदि के लिए व्यक्तियों का मिलजुल कर कार्य करना ताकि वे संयुक्त रूप से लाभाविन्त हो सकें, सहकारिकता की मूल भावना को प्रतिबिंबित करता है। अंतर्राष्ट्रीय सहकारिता संघ (इंटरनेशलन को-ऑपरेटिव एलायंस) ने सहकारिता को निम्नानुसार परिभाषित किया है-

'सहकारिता एक ऐसा स्वशासी संगठन है जिसमें व्यक्ति अपने समान आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों, आवश्यकताओं और अपेक्षाओं को संयुक्त स्वामित्व और प्रजातांत्रिक तरीके से नियंत्रित संस्था के माध्यम से पूरा करने के लिए स्वैच्छिक रूप से एकत्रित होते हैं'

सहकारिता व्यक्तियों का एक संगठन है जिसमें व्यक्ति तथा विधिक व्यक्ति दोनों को सम्मिलित किया जा सकता है। यह एक स्वशासी संगठन है जिसका स्वरूप सरकारी संस्थाओं, कंपनियों तथा फर्मों से भिन्न है। इसमें व्यक्ति स्वैच्छिक रूप शामिल होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सहकारिता के अंतर्गत सदस्यता अनिवार्य नहीं होती। इसके सदस्य अपनी इच्छा से शामिल होते हैं तथा अपनी इच्छा से सदस्यता छोड़ने के लिए स्वतंत्र होते हैं।

9.4 सहकारिता के उद्देश्य

किसी सहकारी समिति का निर्माण तब होता है जब कुछ समूह के लोग एक साथ मिलते हैं तथा एक संघ की स्थापना करते हैं। यह उन व्यक्तियों का एक संघ है जिनके पास साधारणतया बहुत कम संसाधन होते हैं तथा जो कठिन परिस्थितियों में होते हैं। अपने सदस्यों को आर्थिक लाभ सुनिश्चित करने के लिए मूल रूप में सहकारी समिति, व्यापारिक सिद्धांतों पर चलने वाला एक उद्योग है। लोग सहकारी समिति में शामिल होने के लिए स्वतंत्र हैं और वे इसे अपने स्वनिर्णय पर छोड़ सकते हैं। इसमें किसी तरह का जारे जबरदस्ती नहीं है। सहकारी समिति का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों की सेवा करना है। मुनाफा कमाना यहां गौण हो जाता है। यह प्रजातांत्रिक सिद्धांतों पर चलाया जाता है। इसमें सभी समान होते हैं धर्म, लिंग, राजनीतिक सिद्धांत इत्यादि के आधार पर इसमें किसी तरह का भेद भाव नहीं बरता जाता है। मूल रूप से सहकारी समिति को पूँजीवाद की बुराइयों के फलस्वरूप महत्व मिला। अतः इसलिये सामाजिक न्याय को प्राप्त करना इसका मुख्य उद्देश्य है। अन्त में सहकारी आन्दोलन को समाज के कुल सामाजिक-आर्थिक आन्दोलन के संघटक के रूप में बताया गया है। इसे शांतिपूर्ण तरीकों से समाज के पुनर्निर्माण एवं पुनर्संरचना में समर्थ बताया गया है।

किसी भी सहकारी संघ या संस्था की स्थापना कुछ मुख्य उद्देश्यों या लक्ष्यों के साथ होती है और सभी सहकारी संघों के दीर्घकालिक उद्देश्य समान ही होते हैं। आईये इन उद्देश्यों के बारे में जानते हैं-

1. सहकारिता का उद्देश्य ईमानदारी और सच्चाई के साथ अपने कार्यों को संचालित करना है तथा इन कार्यों के द्वारा अपने संघ के नैतिक स्तर को उँचा करना चाहिए।
2. सहकारिता का उद्देश्य न केवल किसी व्यक्ति का कल्याण अपितु सम्पूर्ण समाज का कल्याण होना चाहिए।

3. धनी वर्ग द्वारा शोषित गरीब वर्ग के लोगों के जीवन स्तर में सुधार लाना सहकारी संघों का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य होना चाहिए।
4. किसी लाभ के वास्तविक अंश जो लाभ के भोगी को मिलना चाहिए, उसे बिचौलिये ले लेते हैं। अत: सहकारी संघ का उद्देश्य इन्हीं बिचौलियों को हठाना, होना चाहिए।
5. सामाजिक असमानता के उन्मूलन के साथ-साथ धर्म और राजनीति के मामलों में तटस्थ होना सहकारी संघ का उद्देश्य होना चाहिए।
6. प्रत्येक के लिए सभी और सभी के लिए प्रत्येक की विश्वव्यापी अवधारणा को सुनिश्चित करना तथा कमजोर वर्ग के लोगों को सुगम जीवन प्रदान करना सहकारिता का उद्देश्य होना चाहिए।

9.5 सहकारिता के प्रकार

भारतीय सहकारी संघ विश्व के सबसे बड़े सहकारी संघ के रूप में उभरा है। ऐसा माना जाता है कि इस सहकारी संघ में तीन लाख से भी अधिक सहकारी समितियां है। आईये भारत में कार्य कर रहे सहकारी समितियों का अध्ययन करते हैं-

9.5.1 सहकारी कृषि

ग्रामीण विकास के लिए एक प्रभावी और शक्तिशाली संभावित योजना के रूप में सहकारी कृषि के महत्व को भारत सरकार ने मान्यता दी है। सहकारी कृषि एक एसे प्रकार की कृषि का विकल्प देती है जिसमें किसान स्वेच्छा से अपनी भूमि, साधनों और श्रम को मिला कर सामुहिक रूप से खेती करते हैं। कृषि समिति द्वारा भूमि, साधन और श्रम को उपयुक्त इकाईयों में बांटा जाता है और सामूहिक भूमि पर कृषि कार्य किया जाता है तथा सदस्यों के कार्य की गणना परीक्षण के बाद सावधानी पूर्वक की जाती है और तब पारिश्रमिक दिया जाता है। उत्पादन को बाजार में बेचा जाता है और ब्रिकी से प्राप्त आय को सदस्यों के बीच श्रम और जमीन के हिस्से के आधार पर बांट दिया जाता है।

सबसे पहले चालीस के दशक में भूतपूर्व सैनिकों की व्यवस्थापन के लिए भारत में सहकारी कृषि समितियों का प्रारम्भ किया गया था। सहकारी कृषि के द्वारा भूतपूर्व सैनिक अपनी आजीविका चला सकते थे। भारत के विभाजन के बाद भी विस्थापितों के पुनर्वास के लिए सहकारी कृषि एक उपयोगी साधन हो हुआ। भारत में सर्वप्रथम सहकारी समितियों की स्थापना मुंबई, उत्तर प्रदेश, मैसूर और मद्रास में की गयी। अन्य राज्यों ने भी इनका अनुसरण करते हुए सहकारी समितियों की स्थापना की।

इन राज्यों ने सहकारी समितियों की स्थापना के लिए जिन मुद्दों/विषयों को आधार बनाया उनमें अशिक्षित किसानों का विचौलियों द्वारा शोषण, किसानों को कृषि के पुराने उपकरणों के स्थान पर कृषि कार्य के लिए आधुनिक उपकरण की व्यवस्था, गरीब और सिमान्त किसानों को आर्थिक सहायता तथा सम्पत्ति के बंटवारे के कारण छोटे-छोटे जोत क्षेत्र के कारण अधिक संख्या में बढते हुए किसानों को सहायता आदि प्रमुख थे। इन सब मुद्दों/विषयों को देखते हुए भारतीय किसानों के लिए सहकारी कृषि का सुझाव दिया गया। सहकारी कृषि कृषि के वैज्ञानिक तरीके से कृषि करने में भी सहायक होगी। इससे किसानों में आत्मनिर्भरता बढेगी और ग्रामीणों को सहकारी कृषि लाभपूर्ण रोजगार देगी। इससे तीव्र ग्रामीण विकास प्रारम्भ होगा।

9.5.2 सहकारी विपणन (Cooperative marketing)

भारत में सर्वप्रथम सहकारी विपणन की स्थापना सन् 1915 में हुबली में हुई थी। इसके बाद देश के अन्य भागों में भी अनेक विपणन समितियों की स्थापना की गयी। मंडी स्तर पर 37 हजार से भी अधिक प्राथमिक विपणन

समितियां हैं। लगभग 170 जिला केन्द्रीय समितियां और 29 राज्य विपणन संघ हैं। पूरे देश में 32 प्रधान शाखाओं में कार्य कर रही 'राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ' है।

विपणन या बाजार ग्रामीण विकास की एक प्रमुख समस्या है। अच्छी बाजार व्यवस्था कम समय में सबसे अधिक लाभप्रद मुल्य पर अपने उत्पादन को बेचने में किसानों की सहायता करती है। ऐसी स्थिति में किसान भरपूर लाभ प्राप्त करने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं जिससे उनके आर्थिक जीवन में सुधार होता है। सहकारी विपणन समितियां इसके लिए एक महत्वपूर्ण साधन हैं। सहकारी विपणन से आशय यह है कि किसान जो उत्पादक है वह अपने लाभ के लिए अपने उत्पादन को सबसे अधिक लाभकारी मूल्य पर बेचने की एक व्यवस्था है।

सहकारी विपणन समितियां किसानों और व्यापारियों के बीच एक मध्यस्थ या ऐजेंट का कार्य करती हैं, ताकि किसानों को बिचौलियों से छुटकारा मिल जाय और किसान समितियों के माध्यम से अपने उत्पाद को कम समय में और अधिक लाभ पर बेच सके। विपणन समिति किसानों को उनके उत्पाद का तुरंत भुगतान कर देती है। तथा विपणन समितियां किसानों को उनके उत्पाद को समितियों के गोदामों में रखने की अनुमति देकर किसानों की सहायता करती है। इससे किसानों को बाजार में अपना माल रखने की तब तक की सहुलियत मिलती है जब तक किसानों को उनके उत्पाद का उचित मूल्य नहीं मिलता। ये समितियां किसानों के उत्पाद को एकत्रित करने की जिम्मेदारी लेती हैं तथा मापदण्डों के आधार पर कच्चे माल को लेकर उसे संशोधित करने तथा उसे उपभोग के योग्य बनाने का भी उत्तरदायित्व भी लेती हैं। कुछ खास क्षेत्रों में किसानों को न्यूनतम समर्थन मूल्य सुनिश्चित करके किसानों को उनके उत्पाद को विपत्ति में बेचने के संकट से भी बचाती हैं। विपणन समितियां किसानों को उचित मूल्य पर आवश्यक सामग्री जैसे- खाद, बीज, तेल इत्यादि की आपूर्ति की जिम्मेदारी भी लेती हैं। राष्ट्रीय कृषि विपणन सहकारी संघ और राज्य विपणन सहकारी संघ ने विदेशों में अनेक उपयोगी वस्तुओं को निर्यात करने का उत्तरदायित्व ले रखा है।

9.5.3 सहकारी औद्योगिक संघ

सहकारी औद्योगिक संघ कारीगर, शिल्पी और औद्योगिक मजदूरों द्वारा बनाया गया सहकारी संघ है। उत्पादन और विपणन की जिम्मेदारी लेने के लिए कारीगर, शिल्पी और औद्योगिक मजदूरों को सहायता प्रदान करने के लिए सहकारी औद्योगिक का निर्माण किया जाता है। यह सहकारी औद्योगिक उद्योगपतियों के शोषण से गरीब कारीगरों के अधिकारों को सुरक्षित करता है तथा कृषि के मंद समय में रोजगार के अवसर प्रदान करता है। इससे यह लाभ होता है कि खाली पड़े किसानों और ग्रामीण कारिगरों को रोजगार उपलब्ध हो जाता है और उनके जीवन स्तर में भी सुधार होता है।

सर्व प्रथम सहकारी औद्योगिक संघ की स्थापना सन् 1930 में की गयी। किन्तु देश की अर्थव्यवस्था में इनका प्रभाव और सहयोग सीमित ही था। अपनी सीमित सफलता के बावजूद भी सन् 1945-46 में मुंबई और मद्रास में बढई, तैलकार और कुम्भकारों, खिनौना बनाने वालों तथा मधुमख्खी पालने वालों के लिए सहकारी समितियां प्रारम्भ की गयी। स्वतंत्रता के बाद भी इस क्षेत्र में इन समितियों के संतोषजनक कार्य ने इस क्षेत्र के विकास को प्रोत्साहन दिया। आज भारत में बहुत अधिक संख्या में औद्योगिक सहकारी संघ हैं। ये कारीगरों, शिल्पियों की मांग पर कच्चे माल, औजार और उपकरण इत्यादी की खरीद और आपूर्ति का कार्य करती हैं। ये तैयार माल को उचित मूल्य पर बेचने का भी उततरदायित्व लेती हैं। किन्तु अनेक औद्योगिक सहकारी जो सफलता पूर्वक कार्य कर रही हैं, प्रबन्धकीय कमजोरी की दृष्टि से उनमें कई कमियां आ गयी हैं तथा इन कमियों को दूर करना अतिआवश्यक है।

9.5.4 सहकारी उपभोक्ता संघ

ऐसा माना जाता है कि सहकारी आन्दोलन का प्रारम्भ औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा दी गयी चुनौतियों के उत्तर में सहकारी उपभोक्ता आन्दोलन के रूप में हुआ। बाद में यह आन्दोलन अन्य देशों में फैला। भारत में इसकी

शुरूआत सन् 1904 से हुई, किन्तु इसका विस्तार नहीं हो पाया। स्वतंत्रता के बाद सहकारी उपभोक्ता आन्दोलन सभी राज्यों में फैला। भारत में सहकारी उपभोक्ता समितियों की संरचना में प्राथमिक उपभोक्ता सहकारी भण्डार, थोक भण्डार, राज्य संघ और शिखर स्तर पर राष्ट्रीय सहकारी उपभोक्ता संघ होते हैं। प्राथमिक उपभोक्ता सहकारी भण्डार इस संरचना की बुनयादी इकाई है। थोक भण्डार जिसके सदस्य उपभोक्ता के रूप में होते हैं, संरचना में इसका दूसरा स्थान है। तथा राज्य संघ एक समन्वयकारी संस्था है। सहकारी उपभोक्ता संघ का सबसे प्रमुख उद्देश्य है, उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर उत्तम कोटि के सौदे की आपूर्ति करना। संघ बिचौलियों को हटाता भी है। भारत में सहकारी उपभोक्ता संघ को सरकार द्वारा चलाया जाता है। सहकारी उपभोक्ता संघ शहरों तक ही सीमित है और संगठित क्षेत्र ही इसमें सम्मिलित होते हैं। ग्रामीण क्षेत्र और असंगठित क्षेत्र इसमें सम्मिलित नहीं किए जाते।

9.5.5 सहकारी उत्पादक संघ

भारत में सहकारिता का प्रारम्भ और सहायता राज्य के द्वारा किया जाता है। इसका कारण सहकारिता यह है कि सहकारिता स्वयं के संसाधनों से खड़ी नहीं हो सकी, इसलिए सरकार इसे सहयोग और सहायता करती है। इस सहयोग और सहायता में मुख्यत: ऋण के क्षेत्र को प्रारम्भ करने, उत्पादकों और उपभोक्ताओं की इच्छा पूरी करने के साथ ही सहकारी समितियों ने अनेक कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया। दुग्ध परियाजना के संबंध में सहकारिता ने उल्लेखनीय कार्य किया है। देखा जाय तो दुग्ध परियोजना के क्षेत्र में सहकारिता ने पूरे देश में तेजी से कार्य किया। किन्तु भारत में सहकारी दुग्ध का इतिहास पुराना है, किन्तु इसके विस्तार की प्रक्रिया बहुत धीमी रही। भारत में प्रथम सहकारी डेरी की स्थापना इलाहाबाद में सन् 1913 में हुई, किन्तु इसके विकास की प्रक्रिया बहुत धीमी रही। स्वतंत्रता के बाद इसमें तेजी से विस्तार हुआ और कई राज्यों ने अपने यहां सहकारी डेरी की स्थापना की। सहकारी डेरी के उद्देश्य थे- दुग्ध उत्पादकों की सहायता करना लगातार बढते दुग्ध की शहरी मांग की पूर्ति करना।

सहकारी उत्पादक संघ में दुग्ध संघ के अलावा यह बताना भी प्रासंगिक है कि चीनी उत्पादन और बुनाई के कार्यों इत्यादि जैसे क्षेत्रों में भी सहकारी संघ हैं। कई राज्यों में तो चीनी सहकारी समितियों ने सहकारिता के क्षेत्र में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

9.6 सहकारिता और विकास

सहकारिता और विकास का संबंध सकारात्मक है। 'राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम' की स्थापना वर्ष 1963 में संसद के एक अधिनियम के द्वारा कृ एवं किसान कल्याण मंत्रालय के अंतर्गत एक सांविधिक निकाय के रूप में की गई थी। एनसीडीसी का उद्देश्य कृषि उत्पादन, खाद्य पदार्थों, औद्योगिक वस्तुओं, पशुधन तथा सहकारी सिद्धान्तों पर उत्पादित कुछ अन्य अधिसूचित वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन, प्रसंस्करण, विपणन, भण्डारण, निर्यात तथा आयात तथा इसके साथ संबंधित मामलों या आकस्मिक मामलों के लिये कार्यक्रमों की योजना बनाना और उनका संवर्द्धन करना है। एनसीडीसी सहकारी क्षेत्रों हेतु शीर्ष वित्तीय तथा विकासात्मक संस्थान के रूप में कार्यरत एकमात्र सांविधिक संगठन है। यह कृषि एवं संबद्ध क्षेत्रों के अलावा विभिन्न क्षेत्रों में सहकारिता को सहयोग प्रदान करता है।

हाल ही में केंद्रीय कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय ने राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम (National Cooperative Development Corporation -NCDC) की एक नई पहल सकहार कूपट्यूब एनसीडीसी चैनल की शुरूआत की है।इसका उद्देश्य किसानों तथा युवाओं को सहकारी समितियों का लाभ उठाने के लिये प्रोत्साहित करना है। सहकारिता के माध्यम से युवाओं के लिए रोजगार के अवसर भी बढ़ सकेंगे एवं इस पहल से सहकारिता की दिशा में जागरूकता बढ़ेगी। सहकारिता हमारी संस्कृति का हिस्सा है। इसके माध्यम से, सरकार का प्रयास सहकारी आंदोलन में युवाओं की भागीदारी को सुविधाजनक बनाना है।

केंद्रीय कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रायल ने किसी सहकारी संस्था या समिति के गठन और पंजीकरण हेतु 18 विभिन्न राज्यों के लिये हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं में एनसीडीसी द्वारा निर्मित मार्गदर्शक वीडियो भी लॉन्च किये हैं। यू-ट्यूब प्लेटफार्म पर चलने वाले, सहकार कूपट्यूब चैनल की शुरूआत उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, मध्य प्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ़, झारखंड, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, तमिलनाडू, पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र, ओडिशा, मिजोरम, त्रिपुर, केरल, गुजरात, पंजाब एवं कर्नाटक राज्यों में की गई है।

'सहकार मित्र' योजना, राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम द्वारा शुरू की गई एक पहल है। यह योजना, अकादमिक संस्थानों के प्रोफेशनलों को किसान उत्पादक संगठनों के रूप में सहकारी समितियों के माध्यम से नेतृत्व और उद्यमशीलता की भूमिकाओं को विकसित करने का भी अवसर प्रदान करेगी। इस कार्यक्रम के तहत प्रत्येक प्रशिक्षु को 4 माह की इंटर्रशिप अवधि के दौरान वित्तीय सहायता दी जायेगी।इस योजना के तहत कृषि एवं संबद्ध क्षेत्रों और आईटी जैसे विषयों के प्रोफेशलन स्नातक 'इंटर्नशिप' के लिए पात्र होंगे। कृषि-व्यवसाय, सहयोग, वित्त, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, वानिकी, ग्रामीण विकास, परियोजना प्रबंधन, इत्यादि में एमबीए की डिग्री के लिए पढ़ाई कर रहे या अपनी पढ़ाई पूरी कर चुके प्रोफेशनल भी इसके लिए पात्र होंगे।

सहकार मित्र योजना, सहकारी संस्थाओं को युवा प्रोफेशनलों के नए और अभिनव विचारों तक पहुंचने में मदद करेगी।जबकि प्रशिक्षु को क्षेत्र यानी फील्ड में काम करने का अनुभव प्राप्त होगा जो उन्हें आत्मनिर्भर होने का विश्वास दिलाएगा। इसके तहत सहकारी समितियों के साथ-साथ युवा पेशेवरों के लिए भी लाभप्रद साबित होने की उम्मीद है।

सहकारी समिति नैतिक मूल्यों पर आधारित होती है, जो सहकारिता के सिद्धांतों पर आगे बढ़ती है। सहकारी साख समितियों के कारण ग्रामीणों-किसानों को साहूकारों के चंगुल से छुटकारा मिल पाया है। सहकारी समिति के नेटवर्क से सदस्यों और उनके परिवार से संरक्षण मिलता है। यह सच है कि सहकारी संस्थाओं से ग्रामीण क्षेत्र के उत्थान के लिए बहुविधि कार्यकलाप अपनाने की अपेक्षा की गई। सहकारी संस्थाओं के विकास में राज्य सरकारें एक अत्यंत महत्वपूर्ण केंद्र बिन्दु मानी जाती हैं और सहकारी संस्थाओं की समीक्षा करने वाली प्रत्येक समिति/आयोग ने राज्य सरकारों की भूमिका स्वीकार की है।

सहकारिता का जन्म 19वीं शताब्दी में ऐसी परिस्थितियों में हुआ जब छोटी आमदनी वाले लोग, किसान आदि सामाजिक और वित्तीय रूप से वंचित थे। वे विकास और वृद्धि की प्रक्रिया का हिस्सा नहीं थे। समाज के वंचित और गरीब तबके के लोगों को समाज एवं अर्थव्यवस्था की मुख्य धारा में लाने के लिए सहकारिता को एक आदर्श संस्थागत व्यवस्था माना गया जो स्वफूर्त, स्वैच्छिक और पारस्परिक तथा सेवा उन्मुख मूल्यों पर आधारित थी, न कि लाभ कमाने के मूल्यों पर। उससे अर्थव्यवस्था, सरकार और पूरे सिस्टम को भी किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती थी। सहकारिता आर्थिक और सामाजिक दोनों ही उद्देश्यों को पूर करती है, उसके पास उसके अपने मूल्य हैं और उसका अपना समुदाय भी है और अपना दृष्टिकोण भी लोकोन्मुख है, अतः वह स्वतंत्रता, समानता, सुरक्षा और सम्मान के साथ आर्थिक वृद्धि का नेतृत्व कर सकती है तथा वैश्वीकरण का यथोचित स्थानीय जवाब भी हो सकता है।

यूएन जनरल एसेंबली ने सहकारिता के विभिन्न तत्वों मूल्यों एवं तत्वों की प्रशंसा की है और इस बात पर बल दिया है कि सहकारिता स्वैच्छिक तथा खुली सदस्यता, सदस्यों की लोकतांत्रिक नियंत्रण, सदस्यों की आर्थिक सहभागिता, स्वायत्तता एवं स्वतंत्रयता, शिक्षा, प्रशिक्षण एवं सूचना, सहकारी संस्थाओं के बीच सहयोग प्रदान करती है और अपने समुदाय के प्रति चिंतित रहती है ताकि वे आर्थिक विषमता वंचन और गवर्नेंस के लोकतांत्रिक पक्ष को खतरा पैदा करने वाली समस्याओं को मिटा सके। यूएन भी 1990 के दशक से आयोजित किए जा रहे यूनाईटेड नेशंस ग्लोबल कॉन्फरेंस और सेमिनारों द्वारा तैयार की गयी विकास की कार्य सूची को अमल में लाने के लिए सहकारिता आंदोलन को एक महत्वपूर्ण सहभागी मानता है।

केपनहेगन में सामाजिक विकास के लिए वर्ष 1995 में आयोजित विश्व समिट में भी विकास के लिए जन-केंद्रित सहकारिता के महत्व को अधोरेखित किया था। सरकारों ने भी सहकारिता पर वर्ष 2001 के यूनाईटेड नेशंस के दिशा निर्देशों को अपनाया था जो सहकारिता के गठन का मार्गदर्शन करते हैं तथा साथ ही सरकारों की भूमिका को केवल इसके लिए उपयुक्त वातावरण बनाना तथा समान अवसर उपलब्ध कराने तक ही सीमित करते हैं ताकि सरकारी संस्थाएं निरंतर आधार पर काम कर सकें। वर्ष 2002 की आईएलओ कि सिफारिश संख्या 193 में सहकारिता के कारोबार की क्षमता को बढ़ावा देने की आवश्यकता पर बल दिया गया है ताकि वे निरंतर विकास और रोजगार में अपना योगदान दे सकें।

सहकारिता संघों को मजबूत बनाने व आर्थिक व सामाजिक विकास के क्षेत्रों में योगदान देने के लिए सहकारी संस्थाओंके लिए अपेक्षित सुधार की आवश्यकता है जैसे- सहकारिता की पहचान को मजबूत बनाना, क्षमता निर्माण, प्रौद्योगिकी को अपनाना और उसे आत्मसात करना, मूल्य-वर्धित और नवोन्मेषी उत्पाद तथा सेवाएं प्रदान करना, शासन संरचना को सुधारना, सहकारी संस्थाओं के बीच व्यावसायिक गठजोड़ और सहकारिता को बढ़ावा देना और ब्रांड छवि विकसित करना। संयुक्त राष्ट्र संघ की आम सभा में एक संकल्प पारित किया गया है जिसमें वर्ष 2012 को अंतर्राष्ट्रीय सहकारिता वर्ष घोषित किया गया है। यह आशा की जाती है कि यह केवल सहकारिता वर्ष ही होगा बल्कि इसके साथ वैश्विक अर्थव्यवस्था में सहारिता का एक नया युग शुरू होगा। क्या भारत तब तक सहकारिता के क्षेत्र में आवश्यक सुधारों के साथ तैयार हो जाएगा।

भारतीय अर्थव्यवस्था में सहकारी क्षेत्रों का एक विशेष स्थान है। हमारे देश में सहकारी साख के साथ-साथ सहकारी बिक्री तथा सहकारी प्रसंस्करण पर भी बल दिया गया है। लेकिन साख सहकारिता ही वास्तविक अर्थ में सहकारी अवधारणा का प्रतीक है जो जर्मनी के प्रयोग से विशेषतः प्रभावित है। भारत में सहकारिता के सिद्धांत पर आधारित बैंकिंग के कई स्वरूप एवं स्तर विद्यमान है। सहकारिता के माध्यम से विकास के अनेक आयाम सामने आये हैं सामूहिक प्रयास से कार्य करने से अनेक क्षेत्रों में आजीविका के स्त्रोत सामने आये हैं।ग्रामीण क्षेत्रों में खेती किसानी करने वाले लोग सहकारिता के माध्यम से स्वालंबी बन सकते हैं और इससे वह गरीबी के जाल से बाहर निकल कर विकास के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। वर्तमान में पूरे देश में लगभग 6 लाख सहकारी समितियाँ हैं और लगभग 21 करोड़ लोग इस सहकारिता से जुड़े हैं। वर्ष 2002 में उत्तराखंड राज्य सहकारी संघ अस्तित्व में आया और इससे विकास के कार्यों का श्रीगणेश हुआ। उत्तराखंड में लगभग 672 सहकारी संस्थायें हैं। भारत सरकार द्वारा सहकारी समितियों के माध्यम से समर्थन मूल्य के आधार पर कृषि का क्रय बिक्रय किया जाता है। सहकारी समितियों के द्वारा किसानों को अच्छे किस्म के बीच, उर्वरक, और खाद्य का वितरण किया जाता है जिससे कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है और इससे विकास के मार्ग खुलते हैं।

सहकारी के अनेक प्रकार हैं भारतीय सहकारी आन्दोलन संसार में सबसे बड़ी आन्दोलन के रूप में उभरा है। यह कहा जा रहा है कि इसके तीन लाख से भी अधिक समितियाँ हैं भारत में कार्य कर रही प्रमुख सहकारी समितियाँ निम्न प्रकार हैं जो अर्थव्यवस्था और विकास के मार्ग में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं- सहकारी कृषि, सहकारी विपणन, उत्पादक सहकारी, औद्योगिक सहकारी, और उपभोक्ता सहकारी।

9.7 सहकारिता एवं पंचायती राज संस्थाएं

केंद्रीय एवं सभी राज्य सरकारों ने सहकारी आंदोलन को विभिन्न रूपों में बढ़ाया है। पहले ग्रामीण सहकारी का प्रमुख कार्य किसानों को साहूकारों से बचाने हेतु उनके लिए सस्ते ऋण का इतंजाम करता था। फिर भी स्वतंत्रता के बाद एक निश्चित परिवर्तन हुआ है। साधारण ऋण के साथ-साथ सहकारी विपणन उत्पादक सहकारी एवं अन्य अनेक नये क्षेत्रों पर जोर बढ़ा दिया गया है। सहकारी को विशेषकर ग्रामीण विकास में दी गयी प्रमुख भूमिका की दृष्टि, पंचायती राज एवं सहकारी के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध की आवश्यकता है। वास्तव में पंचायती राज संस्थाऐ एवं

सहकारी ग्रामीण पुनर्रचना के दो स्तंभ के रूप में आमने सामने देखे गये हैं। सहकारी आन्दोलन और पंचायती राज संस्थाओं में घनिष्ठ संबंध है, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन के दोनों साधन के रूप में देखे गये हैं। किंतु दोनों स्व-सहायता परस्पर सहायता समानता, प्रजातंत्र और विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत का अनुसरण करते हैं। सैद्धान्तिक सहायता के अतिरिक्त, क्रियात्मक दृष्टि से दोनों में परस्पर निर्भरता की एक पृथक पद्धति है। सहकारी ऋण एवं अन्य प्रमुख निवेशों की आपूर्ति करता है, जबकि पंचायती राज संस्था कृषि योजना के निर्माण तथा उसके कार्यान्वयन में राजनैतिक और प्रशासनिक नेतृत्व प्रदान करती है। इस प्रकार सामूहिक हित के अनेक क्षेत्र है। जिसे समन्वय एवं संयुक्त प्रयास की आवश्यकता होगी, क्योंकि तीव्र ग्रामीण विकास दोनों आंदोलनों का उद्देश्य एक ही है।

भारत में प्रधान रूप से कृषि सम्बन्धी कार्य व्यवस्था है। इसलिए कृषि संबंधी एवं अन्य संबंध कार्यों के लिए ऋण महत्वपूर्ण है। यह पता है कि अनेक आर्थिक संस्थाओं के वर्तमान रहने के बावजूद भी सहकारी को एक प्रमुख भूमिका अदा करना है। ऐसे ग्रामीण विकास बहुत अधिक सहकारी पर निर्भर है। सहकारी आन्दोलन को वह प्रमुख सुविधा है जो अन्य आर्थिक संस्थाओं को प्राप्त नहीं है। वह यह है कि सभी स्तरों पर इसके निर्णय निर्माण तथा क्रियान्वयन की प्रक्रिया दोनों में जन समूह शामिल होते हैं।

यद्यपि सहकारी, भारत के आर्थिक विकास में एक प्रमुख भूमिका अदा कर रही है, फिर भी देश में आज आंदोलन को जिन गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, उसकी हम एकदम उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। कृषि के लिए कर्ज वसूली की स्थिति दुखद है। इसके अनेक कारण हैं। बकाये के पीछे कई वास्तविक कारण हैं, लेकिन कुछ उदाहरणों में देखा गया है कि धनी कृषक वर्ग में इसके लिए कुछ विरोध है, तो कुछ स्थानों पर राजनीतिक विरोध है।

यद्यपि सहकारी आंदोलन, सामान्य लोगो के लिए है, किंतु विभिन्न क्षेत्रों में कुछ खास समूह के लोग एक या अन्य प्रकार से इस आंदोलन को नियंत्रित करते हैं। जब तक इन लोगों में गहराई तक फैली निहित स्वार्थ को खत्म नहीं किया जाता है तब तक लोकतांत्रिक क्रियाकलाप का कोई भविष्य नहीं दिखेगा। यह देखा गया है कि गरीब लोग जैसे- सीमान्त किसान, बटाईदार, भूमिहीन मजदूर, गंदी बस्ती में रहने वाले एवं अन्य उपेक्षित वर्ग के लोग कभी भी कार्यक्षेत्र में बाहर हैं। आगे सहकारी कार्य में सरकार द्वारा बहुत अधिक हस्तक्षेप किया जाता है। कभी-कभी तो कुप्रबंध, भ्रष्टाचार इत्यादि को रोकना आवश्यक हो जाता है। लेकिन सरकारी नियन्त्रण एक नियमित प्रक्रिया होनी चाहिए। सरकार को सहकारी के साथ विभागीय कार्य की तरह व्यवहार नहीं करना चाहिए।

अन्त में सहकारी आंदोलन में यद्यपि करोड़ों लोग हैं किंतु इनमें से अधिकांश लोग अपने आर्थिक लाभ के कारण इसमें जुड़े हुए हैं। आगे हम लोगों के अंदर यह भावना है कि सहकारिता का सूत्रपात सदा सरकार के द्वारा किया जाता है। न कि लोगों के द्वारा अपने आप। इसलिये सहयोगियों को सहकारिता के आदेश एवं सिद्धांत को समझना चाहिए। देश में सहकारी आंदोलन के विरूद्ध कुछ काल्पनिक और कुछ वास्तविक, अनेक शिकायत हो सकते हैं, लेकिन फिर भी सामान्य जनता के विकास एवं लाभ के लिए, सहकारी को सबसे अधिक प्रजातांत्रिक संख्या के रूप में मान्यता दी जानी है।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में सहकारिता के इतिहास के इतिहास को कब से प्रारम्भ माना जाता है?
2. सहकारिता की आधुनिक अवधारणा किसका परिणाम है?
3. सहकारी आन्दोलन का जन्मदाता किसे कहा जाता है?
4. भारत में सर्वप्रथम सहकारी विपणन की स्थापना कब हुई?
5. भारत में सर्वप्रथम सहकारी औद्योगिक संघ की स्थापना कब हुई?
6. भारत में प्रथम सहकारी डेरी की स्थापना कब और कहां हुई?

7. राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम की स्थापना कब की गयी?
8. राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम द्वारा शुरू की गयी पहल का क्या नाम है?
9. उत्तराखण्ड में लगभग कितनी सहकारी संस्थाएं है?

9.8 सारांश

भारत में सहकारिता का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है, जिसके माध्यम से विकास को नया आयाम मिला है। सहकारिता में सहकारी कृषि संघ एक महत्वपूर्ण और मजबूत कड़ी है। गरीब और सिमान्त किसानों के लिए कृषि के लिए ऋण और आधुनिक तकनीक व औजार उपलब्ध कराना इसका मुख्य लक्ष्य है। इसी तरह सरकारी विपणन किसनानों को उनके उत्पाद का उचित मुल्य दिलाकर बिचौलियों से किसानों की सुरक्षा करता है। गरीब, निर्धन और कम जोत भूमि वाले किसानों, कारिगरों और शिल्पकारों की सहकारिता पर बहुत अधिक निर्भरता है। भारत में सहकारिता आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। फिर भी कुछ गंभीर समस्याऐं हैं, जिनमें कृषि के लिए कर्ज वसुली एक गंभीर विषय है।

यह बात सही है कि यहकारिता या सहकारी आन्दोलन गरीब और ग्रामीण किसानों के लिए है। किन्तु विभिन्न क्षेत्रों में कुछ खास समुह के लोग कई प्रकार से सहकारिता को नियंत्रित करते हैं। सहकारिता को इससे बाहर निकालना होगा। साथ ही सहकारिता के कार्यों में सरकारों के बहुत अधिक हस्तक्षेप और नियंत्रण को भी कम करना होगा।

9.9 शब्दावली

सहकारिता- सामुहिक या व्यक्तिगत लाभ के लिए परस्पर सहयोग, पुनर्निमाण एवं पुनर्संरचना- दोबारा निर्माण करना और दोबारा संरचना करना, आत्मनिर्भरता- स्वयं पर निर्भर, विपणन- बाजार, स्वैच्छिक- अपनी या स्वयं की इच्छा

9.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सन् 1904, **2.** औद्योगिक कान्ति का, **3.** रावर्ट ओन, **4.** सन् 1915 में, **5.** सन् 1930 में, **6.** सन् 1913 में इलाहाबाद में, **7.** सन् 1963 में, **8.** सहकार मित्र योजना, **9.** 672

9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रविन्द्र प्रसाद- कोआपरेटिव एण्ड रूरल डेवलपमेंट।
2. गोयल एंड गोयल- प्रिसिपल्स, प्राब्लम्स एडं प्रोस्पैक्ट्स ऑफ कोआपरेटिव एडमिनिस्ट्रेशनस।
3. ओआर कृष्णास्वामी- फंडामेन्ट्स ऑफ कोआपरेशन।
4. विकास प्रशासन, (ई0पी0ए0- 3, इकाई- 24, इग्नू)

9.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. गोयल एंड गोयल- प्रिसिपल्स, प्राब्लम्स एडं प्रोस्पैक्ट्स ऑफ कोआपरेटिव एडमिनिस्ट्रेशनस।
2. ओआर कृष्णास्वामी- फंडामेन्ट्स ऑफ कोआपरेशन।
3. विकास प्रशासन, (ई0पी0ए0- 3, इकाई- 24, इग्नू)

9.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सहकारिता को परिभाषित करते हुए इसकी अवधारणा और उद्देश्यों को स्पष्ट कीजिए।

2. सहकारिता और विकास को समझाते हुए ग्रामीण विकास में सहकारी आन्दोलन की महत्ता की व्याख्या करें।
3. सहकारी आन्दोलन से आप क्या समझते है? सहकारी आन्दोलन के प्रकारों की चर्चा करते हुए पंचायतीराज के क्षेत्र में सहकारिता के योगदान पर प्रकाश डालें।

ईकाई- 10 सार्वजनिक/सहकारी क्षेत्र और विकास

इकाई की संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 सार्वजनिक/सहकारी क्षेत्र (उद्यम)
    10.2.1 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास
    10.2.2 सार्वजनिक क्षेत्र के उद्देश्य
    10.2.3 सार्वजनिक क्षेत्र (उद्यम) का विस्तार और अर्थव्यवस्था पर इसका प्रभाव
10.3 सारांश
10.4 शब्दावली
10.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
10.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.8 निबन्धात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

संसार के प्रायः सभी देशों में सरकारी उद्यम की व्यवस्था की गई है। कई देशों में अर्थशास्त्रियों, प्रशासकों और विश्लेशकों द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र और सार्वजनिक अद्यम शब्द का प्रयोग एक दूसरे के स्थान पर किया जाता है। लोक प्रशासन का एक सार्थक गुण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सरकार का आर्थिक क्षेत्र में बढ़ता हुआ हस्तक्षेप है। अब राज्य का लक्ष्य सभी नागरिकों का कल्याण करना है, यही उसके लोक कल्याणकारी स्वरूप को दर्शाता है। अब राज्य मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने लगा है। उसका अधिकार उत्पादन के साधनों और विविध उद्योगों पर भी बढ़ता जा रहा है। उद्यमों पर भी सरकार का नियंत्रण स्थापित होता जा रहा है जिसे सरकारी उद्यम (State enterprise) के नाम से जाना जाता है। उदाहरण के लिए हथियारों और गोला-बारूद का निर्माण और देश की रक्षा के लिए उससे सम्बंधित गतिविधियाँ राज्य के कार्यकलाप का एक अनिवार्य अंग रही है। इसका उदाहरण हमे प्राचीन काल में महान विद्वान कौटिल्य द्वारा रचित ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में भी मिलता है। 'अर्थशास्त्र' में उल्लेख है कि विभागीय अध्यक्ष सिक्का-गढ़ाई और अन्य आर्थिक गतिविधियों को देखते थे।

औद्योगिक क्रांति के आगमन और इसके विस्तार के कारण विश्व के कुछ देशों ने पूंजीपतियों या निजी उद्योगों के माध्यम से अपना औद्योगिक विकास किया है जबकि पूर्ववर्ती सोवियत संघ तथा चीन जैसे समाजवादी देशों ने सरकारी उपक्रमों के माध्यम से अर्थव्यवस्था को संचालित करना श्रेयस्कर समझा है। वहीं स्वतंत्रता के पश्चात भारत में विशुद्ध रूप से किसी एक प्रणाली को अपनाने के बजाय मिश्रित अर्थव्यवस्था का मार्ग चुना। भारत जैसे विकासशील देश में, सार्वजनिक क्षेत्र एक विकल्प के रूप में नहीं बल्कि व्यापक तौर पर एक आवश्यकता है।

इस इकाई के अंतर्गत हम सार्वजनिक क्षेत्र तथा सार्वजनिक उद्यम के अर्थ को समझायेंगें साथ ही साथ भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के विकास पर चर्चा करेंगे। इस इकाई में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्देश्यों के विषय में भी चर्चा की जायेगी और सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार और अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभाव की विशेष महत्व के साथ चर्चा की जायेगी।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- सार्वजनिक/सहकारी क्षेत्र (उद्यम) के अर्थ की व्याख्या कर सकेंगे।
- भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के विकास पर चर्चा कर सकेंगे।
- सार्वजनिक क्षेत्र के उद्देश्यों को समझ सकेंगे; और
- सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार और अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।

10.2 सार्वजनिक/सहकारी क्षेत्र (उद्यम)

'सार्वजनिक क्षेत्र' शब्द का प्रयोग अलग-अलग पृष्ठभूमि के लोगों द्वारा विभिन्न संदर्भों में इस्तेमाल किया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के महत्व पर अत्यधिक साहित्य उपलब्ध होने के बावजूद भी, सार्वजनिक क्षेत्र, सार्वजनिक उद्यम, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम, राजकीय उपक्रम, राष्ट्रीयकृत उद्योग आदि का अर्थ अब भी अस्पष्ट और विविध बना हुआ है। हम इसे सरल शब्दों में समझने का प्रयास करते है।

व्यापक अर्थों में सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) में सरकार की समस्त अर्थिक गतिविधियाँ शामिल होती है। इसका उपयोग सार्वजनिक उद्यम (Public enterprise) लोक निगम (Public Corporations), सरकार द्वारा नियंत्रित उद्यम (Government Controlled Enterprise) राज्य के स्वामित्व वाले उद्यम (State owned enterprise) सार्वजनिक उपक्रम (Public undertaking) या सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम (Public Sector undertaking) या महज/केवल राज्य उद्यम या उपक्रम (State Enterprise or undertaking) के लिए किया जाता है, लेकिन वास्तव में ये एक ही शब्द के पर्यायवाची है।

कई देशों में अर्थशास्त्रियों, प्रशासकों और विश्लेषकों द्वारा 'सार्वजनिक क्षेत्र'(Public Sector) और 'सार्वजनिक/लोक उद्यम' (Public Enterprise) शब्द का प्रयोग एक दूसरे के स्थान पर किया जाता है।

सार्वजनिक उद्यम (Public Enterprise) दो शब्दों के मेल से बना है- सार्वजनिक/लोक और उद्यम (Public and Enterprise)

स्वतंत्रा के पश्चात् भारत ने विशुद्ध रूप से मिश्रित अर्थव्यवस्था का मार्ग चुना जैसा कि हम पहले चर्चा कर चुके है, जिसमें सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्र विद्यमान होते है। इसी क्रम में जहाँ कुछ क्षेत्रों, यथा-कृषि, लघु उधोग, वस्त्र तथा आम उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में निजी उघमियों का बोलबाला है तो रेवले, डाक-तार, अणु ऊर्जा तथा रक्षा सामग्री उत्पादन इत्यादि में सरकारी उपक्रमों का वर्चस्व बनाए रखा गया है। इसके अलावा बैकिंग, बीमा, वित्तीय और अन्य लोक सेवाएं जैसे- शिक्षा, लोक स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, यातायात और संचार आदि भी सार्वजनिक क्षेत्र में आ जाते है। सरकारी उद्यमों का प्रबंध करने के लिए कई प्रकार के प्रशासकीय संगठन देखने को मिलते है; जैसे- विभागीय प्रबंध, संयुक्त पूँजी कम्पनी, मिश्रित संयुक्त पूँजी कम्पनी, संचालन ठेका एवं लोक निगम। दूसरी ओर, सार्वजनिक उद्यमों में मुख्य ध्यान की बात यह है कि सार्वजनिक उद्यम में, उसके द्वारा दिए गए सामान और सेवाओं की कीमत ली जाती है। इस कीमत में पूरी लागत वसूल होती है या नहीं, लेकिन लक्ष्य यह रहता है कि समूचे उद्यम को कम से कम "घाटा" और लाभ बराबर" वाली स्थिति में होना चाहिए। इसलिए, सामाजिक सेवाएँ, सरकार के प्रशासनिक काम सार्वजनिक उद्यम में नहीं लिए जाते, जबकि रेल सेवा, डाक सेवा और संचार जैसी सार्वजनिक उपियोगिता की सेवाओं को सम्बन्धित विभागों द्वारा प्रबंधित होने के बावजूद सार्वजनिक उद्यम कहा जाता है, क्योंकि लक्ष्य एक अवधि में बराबर वाला "घाटा और लाभ" होता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ प्रकाशन के अनुसार, "सार्वजनिक उद्यम का अभिप्राय है राज्य द्वारा संचालित उद्यम विशेष रूप से औद्योगिक, कृषि या वाणिज्यिक, जिस पर राज्य का स्वामित्व पूर्ण या आंशिक होता है।" इस परिभाषा में दो तत्वों पर बल दिया गया है- उद्धम की आर्थिक प्रकृति और राज्य द्वारा स्वामित्व।

खेरा के अनुसार, ''लोक उद्यम से आशय औद्योगिक, व्यापारिक एवं आर्थिक क्रियाओं से है जो केन्द्रीय या राज्य सरकारों द्वारा सामूहिक रूप से सम्पादित की जाती है तथा प्रत्येक मामले में स्वयं या निजी उद्यम के सहयोग से पूर्ण प्रबन्ध के अधीन होती है।"

संक्षेप में, सार्वजनिक क्षेत्र में वृहद/व्यापक अर्थों में सरकार की सारी आर्थिक गतिविधियाँ आ जाती हैं, जबकि सार्वजनिक उद्यम सार्वजनिक क्षेत्र की वे विशिष्ट प्रकार की संस्थाएँ या प्रतिष्ठान होते हैं, जिसका सम्बन्ध ऐसे औद्योगिक, वाणिज्यिक एवं व्यापारिक उद्योगों या सेवाओं से है जिनका स्वामित्व, प्रबन्ध एवं नियंत्रण केन्द्र, राज्य अथवा स्थानीय सरकार या किसी सार्वजनिक संस्था में निहित है।

10.2.1 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास

आदिकाल से ही भारत औद्योगिक दृष्टि से समृद्ध देश रहा है। अतः रेशम, वस्त्र, लोहा, आभूषण, हथियार, मसाले, बर्तन तथा राजकीय मुद्रा इत्यादि महत्वपूर्ण उद्योग किसी न किसी रूप में राजा के नियत्रंण में रहे है। जिसका सटीक उदाहरण कौटिल्य द्वारा रचित पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में मिलता है। ब्रिटिशकालिन भारत में उद्योग के राज्य द्वारा संचालन और स्वामित्व का उल्लेख सबसे पहले 1888 के भारतीय वित्त आयोग की प्रतिवेदन में मिलता है। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की थी की बार-बार पड़ने वाले अकालों के उपचार या निदान के रूप में उद्योगों को विकसित किया जाए। आयोग ने नए उद्योग स्थापित करने के लिए सरकारी मद्द की आवश्यकता पर भी जोर दिया था। अपने दिए गए सुझाव में आयोग ने यह भी स्पष्ट किया था कि सरकार को चीनी, सूती वस्त्र, ऊन, कागज, बर्तन, रेशम एवं शीशा आदि का निर्माण भी करना चाहिए। इसी क्रम में 1904 में प्रकाशित भारतीय उद्योग आयोग की रिपोर्ट में भी सरकार की औद्योगिक विकास नीति के प्रावधानों को सीमित रखा। 1905 में, सरकार द्वारा एक वाणिज्य एवं उद्योग विभाग की स्थापना की गई और यह आशा की गई थी कि इसके तहत सार्वजनिक क्षेत्र को चालू किया जाएगा। इस दिशा में कुछ कदम भी उठाए गए लेकिन यूरोपीय समुदायों द्वारा इसका विरोध किया गया ताकि राज्य का हस्तक्षेप अद्योगों पर ना रहे।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत की औद्योगिक क्षमताओं को विकसित करने के मकसद से 1916 में औद्योगिक वित्त निगम की नियुक्ति की गई इस निगम ने सिफारिश की थी कि सरकार की औद्योगिक विकास में सक्रिय भूमिका सुनिश्चित हो। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात इस प्रवृत्ति में और अधिक तेजी आई। उद्योगों एवं सेवाओं के स्वामित्व, कार्य-संचालन या नियमन के रूप में सक्रिय सरकारी हस्तक्षेप आज एक विश्वव्यापी प्रक्रिया है।

सन् 1931 के कराची अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वाराज्य के लक्ष्य के आर्थिक एवं सामाजिक तत्वों को विश्लेषित करते हुए यह निश्चित किया कि मुख्य उद्योगों तथा सेवाओं, खनिज स्त्रोतों, रेलवे, जहाजरानी तथा सार्वजनिक महत्व के अन्य साधनों पर राज्य द्वारा नियंत्रण किया जाएगा। इसके पश्चात 1934 में सर एम0 विश्वेश्वरैया ने 'भारत के लिए आर्थिक नियोजन' नामक अपनी पुस्तक में इसका प्रारूप प्रस्तुत किया। इसी क्रम में भारत सरकार अधिनियम 1935 के अधीन उद्योग का विकास प्रान्तों का मामला हो गया और केन्द्र के पास केवल निर्देश और तकनीकी शिक्षा देने का अधिकार रह गया। प्रान्तीय सरकारों के पास न तो पर्याप्त अनुभव, न ही सांगठनिक कोष, पहल करने की क्षमता और ना ही रचनात्मकता थी, अतः प्रान्तों में उद्योग विभागों के बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया गया।

इसके पश्चात शीघ्र ही 1937 में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस ने राष्ट्रीय नियोजन समिति की स्थापना की। इस समिति ने राष्ट्रीय नियोजन के सिद्धान्तों एवं ष्भारतीय राष्ट्रीय योजना के लिए प्रशासकीय मशीनरी पर प्रतिवेदन देने हेतु दो उपसमितियों की स्थापना की। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के कारण समिति तथा इसकी दो उपसमितियों की रिपोर्ट सन् 1948 में प्रस्तुत हो सकी। इन सभी प्रतिवेदनों में प्रमुख उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की अनुशंसा की गई थी। हांलाकि ब्रिटिश शासन के दौरान विभागीय संगठनों के रूप में सिक्योरिटी प्रिटिंग प्रेस, गन फैक्ट्री तथा मझगाँव डॉक इत्यादि कई लोक उपक्रम स्थापित किए गए थे, परिणामस्वरूप स्वतंत्र भारत ने 1947 में ब्रिटिश सरकार से सार्वजनिक क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) छोटी मात्रा में उत्तराधिकार में प्राप्त किया था।

स्वतंत्रता के समय भारत में केवल एक राष्ट्रीय स्तर का 'लोक निगम'(Public Corporation) था। यह सन् 1935 में स्थापित ष्भारतीय रिजर्व बैंकष् था। स्वतंत्रा के पश्चात भारत के सामने विभिन्न प्रकार की आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएँ थी, इन समस्याओं के निवारण हेतु सार्वजनिक क्षेत्र को प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया था इसलिए आर्थिक गतिविधियों में राज्यों का हस्तक्षेप आवश्यक था, जिससे देश की आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन को दूर करने और एक स्वस्थ कृषि और औद्योगिक आधार बनाने में मदद् मिली।

देश के प्रथम प्रधानमंत्री के नेतृत्व में 6 अप्रेल, 1948 में घोषित प्रथम औद्योगिक नीति में कहा गया है कि भारत मिश्रित अर्थव्यवस्था का मार्ग अपनाएगा। इस नीति के अनुसार अस्त्र-शस्त्र निर्माण, आणविक ऊर्जा उत्पादन एवं नियंत्रण तथा रेलवे यातायात प्रबन्ध पर सरकार का एकाधिकार स्थापित किया गया जबकि कोयला, खनिज तेल, लोहा एवं इस्पात, वायुयान निर्माण, जहाज निर्माण, टेलीफोन, तार एवं बेतार के यंत्रों के निर्माण (रेडियो के अतिरिक्त) का अधिकार 10 वर्ष के लिए निजी कम्पनियों के हाथों में रहने देने का निर्णय हुआ। इन क्षेत्रों में नए उद्यमों की स्थापना राज्य का पूर्ण दायित्व माना गया। शेष सभी उद्योग निजी क्षेत्र के लिए खुले रखे गए, लेकिन उन्हें इस प्रावधान के साथ छोड़ा गया कि राज्य भी उत्तरोत्तर इस क्षेत्र में भागीदारी करेगा और जहाँ निजी उधम के तहत उद्योगों की प्रगति संतोषजनक नहीं होगी वहाँ वह हस्तक्षेप करने से नहीं हिचकेगा। भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 39 के अनुसार, यह राज्य का कर्तव्य है कि वह अपनी नीति इस प्रकार निदेशित करे कि देश के भौतिक साधनों का स्वामित्व व नियंत्रण एवं वितरण इस प्रकार हो कि वह लोक-कल्याण में सहायक हो और यह कि ''आर्थिक व्यवस्था के संचालन के परिणाम स्वरूप संपदा और उत्पादन के साधनों का संकेंद्रण ऐसा न हो जिससे लोक हित का अहित हो।'' इसलिए यह स्पष्ट है कि स्वतंत्र भारत में देश के औद्योगिक विकास की रीढ़ सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों ने तैयार की इस तरह देश में सार्वजनिक क्षेत्र की विस्तृत भूमिका स्वाधीनता के बाद काफी मजबूत हो गयी थी।

सन् 1956 में नवीन औद्योगिक नीति प्रस्ताव की घोषणा की गई जिसके आधार पर कई लोक उद्यमों को स्थापित किया गया; उदाहरणार्थ- जीवन बीमा निगम, शिपिंग कार्पोशन ऑफ इण्डिया लि0, हैवी इंजीनियरिंग कार्पोरेशन लिमिटेड, इण्डियन आयल लिमिटेड, भिलाई, दुर्गापुर तथा राउरकेला के इस्पात कारखाने इत्यादि।

सन् 1966 से 1969 के मध्य भी कई लोक उद्योगों को स्थापित किया गया; जैसे- टूल्स कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया, नेशनल टेक्सटाइल्स कार्पोरेशन, इण्डियन पेट्रो केमिकल्स कार्पोरेशन इत्यादि। इसी क्रम मे सन् 1969 में बैंको का राष्ट्रीयकरण कर क्रान्तिकारी कदम उठाया गया। सन् 1971 में तीसरी बार औद्योगिक नीति की घोषणा की गई। सन् 1966 में 'हजारी समिति' ने पूर्व की नीतियों का मूल्यांकन प्रस्तुत कर दिया था। इसी प्रकार सन् 1967 में औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली पर 'सुविमल दत्त समिति भी रिपोर्ट दे चुकी थी। नई औद्योगिक नीति में महत्वपूर्ण उद्योगों को छोड़ शेष में विदेशी कम्पनियों को पूंजी निवेश की अनुमति प्रदान की गई। पटसन, गन्ना तथा अन्य जनपयोगी कृषि उत्पादन में सहकारी क्षेत्र को प्राथमिकता प्रदान की गई।

सन् 1977 में प्रथम बार गैर कांग्रेसी सरकार केन्द्र में सत्तारूढ़ हुई। केन्द्र में जनता दल के सत्ता में आने से औद्योगिक नीति में महत्वपूर्ण संशोधन किए गए। 1977 की औद्योगिक नीति में भी विभिन्न क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए और भी बड़ी भूमिका पर विचार किया गया। जहाँ एक ओर पेट्रोलियम, कोयला, इस्पात आदि क्षेत्रों का विकास किया गया वहीं दूसरी ओर कई नवीन लोक उद्योगों की स्थापना की गई; उदाहरणार्थ- स्टील अथॉरिटी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, हिन्दुस्तान पेट्रोलियम कार्पोरेशन इत्यादि। इस औद्योगिक नीति में लघु एवं कुटीर उद्योगों तथा ग्रामीण क्षेत्रों के आर्थिक विकास को केन्द्र बिन्दु बनाया गया।

सन् 1980 में पुनः कांग्रेस सरकार द्वारा सत्ता प्राप्त करने पर औद्योगिक नीति को संशोधित किया गया। नई नीति में लोक उपक्रमों की क्षमता तथा दक्षता में वृद्धि के लक्ष्य सहित निजी क्षेत्र को नियंत्रित करने के लिए फेरा (विदेशी अंशदान नियमन अधिनियम) तथा एम0आर0टी0पी0 (एकाधिकार एवं प्रतिबन्धित व्यापार व्यवहार) कानून का दायरा विस्तृत करने के प्रावधान किए गए। इस अवधि में भी 6 बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया एवं अन्य लोक उद्यमों जैसे- कम्प्यूटर मेन्टीनेंस कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया। आर्थिक गतिविधि का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं रह गया है जहाँ सार्वजनिक क्षेत्र ने अपनी दशतक न दी हो। इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था को अनेके सकारात्मक लाभ मिले है जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे।

10.2.2 सार्वजनिक क्षेत्र का उद्देश्य

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों/उद्यमों ने देश के औद्योगिक विकास के लिए एक मजबूत नींव रखी है। जैसा कि स्पष्ट है, सार्वजनिक क्षेत्र का उद्देश्य लाभ या मुनाफा कमाना नहीं होता है। देश की अर्थव्यवस्था को सही दिशा प्रदान करने तथा राष्ट्र निर्माण की गतिविधियों में तेजी लाने में यह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सार्वजनिक क्षेत्र का उद्देश्य ना केवल उद्योगों के विकास तक सीमित है, बल्कि ग्रामीण भारत के विकास में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान होता है। ष्कृषिष् जो की भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है, सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक कृषि अर्थव्यवस्था को प्रगतिशील मार्ग की ओर अग्रसर कराने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते है। उद्योगों, कृषि क्षेत्र के अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम नागरिकों के लिए बुनियादी एवं ढाँचागत सेवाऐं प्रदान कर ग्रामीण विकास में अपनी महत्वूर्ण भूमिका निभाते है। विलियन रॉबसन (Willian Robson) ने लोक-उद्यमों को उनकी उद्देश्य एवं प्रकृति की दृष्टि से निम्नलिखित सात वर्गों में विभाजित किया है-

1. सार्वजनिक उपभोग सेवाओं के उद्यम जैसे- गैस, विद्युत, बंदरगाहों एवं जल इत्यादि।
2. यातायात एवं संचार संबंधी जैसे- रेल, हवाई यातायात, जहाजरानी, बस, तार, टेलीफोन, डाक इत्यादि।
3. अधिकोषण शाखा एवं बीमा जैसे- बीमा निगम, भारतीय वित्त निगम, बैंक इत्यादि।
4. बहुउद्देशीय विकास योजना सम्बंधी उद्यम जैसे- भारत में दामोदर घाटी निगम, अमेरिका में टैनेसी वैली ऑथोरिटी इत्यादि।
5. आधारभूत उद्योग अर्थात् अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण उद्योग एवं सेवाएँ जिनकी स्थापना निजी स्वामित्व में हुई थी लेकिन आगे चल कर सरकार ने इसे अपने स्वामित्व मे ले लिया जैसे- लोहा व स्टील, तेल उत्पादन, कोयला खादान इत्यादि।
6. नीवन उद्योग या सेवाएँ, जैसे- हिन्दुस्तान स्टील, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, भारतीय टेलीफोन उद्योग, राज्य व्यापार निगम इत्यादि।
7. सांस्कृतिक कार्यविधियाँ जैसे- ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग कॉरपोरेशन, ब्रिटेन में कला परिषद एवं भारत का फिल्म निगम इत्यादि।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अलग-अलग देशों में सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के भिन्न-भिन्न कारण हो सकते है, फिर भी विभिन्न देशों से संकलित/इकट्ठा जानकारी के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ (यू0एन0ओ0) ने उन कारणों को विस्तार से और स्पष्ट समझाया है जिनके रहते सरकारों ने सार्वजनिक क्षेत्र की स्थापना की। यू0एन0ओ0 द्वारा दर्शाए गए उद्देश्यों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

1. विकास से सम्बन्धित पहल सरकार द्वारा होनी चाहिए, भावी उद्देश्य के लिए मांग पक्ष की ओर सरकारी प्रोत्साहन की और आर्थिक और सामाजिक कार्यों में सरकार की सशक्त सीधी भागेदारी की आवश्यकता होगी। अतः सरकार को चाहिए की वह औद्योगिक गतिविधियों को बढ़ावा देने और पूँजी निवेश के लिए प्रयास करे। इसके साथ ही सरकार अवसंरचना और बुनियादि गतिविधियों का विकास करने के लिए पहल के रूप में है या सरकारी उद्यमों को आवश्यक प्रबंधकीय और तकनीकी क्षमताएँ दे सकती है
2. सरकार की अपनी कुछ प्राथमिकताएँ और अनिवार्यताएँ होती है, जिन्हें साकार रूप देने के लिए आवश्यक है कि उन्हें पूरी तौर पर निजी उद्यमों के भरोसे न छोड़ दिया जाए।
3. सरकार आयात को स्थानापन्न करने (प्रतिस्थापन) और निर्यात को बढ़ावा देने संबंधी गतिविधियों में निजी क्षेत्र के प्रयासों को पूरा करने में सक्षम हो सकती है।
4. सरकार की यह इच्छा हो सकती है कि वह किसी और माध्यम की अपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों द्वारा ली गई कीमतों के माध्यम से संसाधन पैदा करके बचत को और तेजी से बढ़ावा दे।
5. सरकार एक अल्प-विकसित क्षेत्र में विकास के अभिकरण (Agent) के रूप में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को चालू कर सकती है, क्योंकि पहले से विकसित क्षेत्र में अपनी इकाइयों को सौंपने निजी क्षेत्र की प्रवृत्ति होती है।
6. अनेक विकासशील देशों की सरकारों के कुछ वैचारिक उद्देश्य भी हैं, जैसे- आर्थिक और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देना, इससे भी सार्वजनिक क्षेत्र को एक अधिक बड़ी भूमिका सौंपा जाना आवश्यक हो जाता है।

स्वतत्रंता प्राप्ति के वक्त भारत की अर्थव्यवस्था कमजोर अवस्था में थी। आर्थिक, सामाजिक और सामरिक महत्व के मोर्चों पर अर्थव्यवस्था के सामने जितने प्रकार की और जितनी अधिक समस्याएँ थीं उनके रहते आत्म-निर्भर आर्थिक वृद्धि के माध्यम के रूप सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका का विस्तार करना सरकार के लिए व्यावहारिक रूप से अनिवार्य हो गया जिससे एक स्वस्थ कृषि और औद्योगिक आधार पर विकास करना, सार्वजनिक अर्थव्यवस्था को विविधता देना और सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करना सम्भव हो सके।

सार्वजनिक क्षेत्र का लक्ष्य निम्न उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए बनाया जाता है-

1. देश के तीव्र औद्योगीकरण और आर्थिक विकास में मदद करना;
2. देश के आर्थिक विकास के लिए आधारभूत ढांचा तैयार करना;
3. क्षेत्रीय असंतुलन को समाप्त करना;
4. रोजगार के अवसर पैदा करना;
5. विकास के लिए संसाधन सृजित करना;
6. लघु और सहायक उद्योगों के विकास में सहायता करना;
7. अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में राष्ट्रीय ब्रांडो को बढ़ावा देना;
8. आमदनी और सम्पदा के पुनर्वितरण को बढ़ावा देना;
9. आयात प्रतिस्थापन को बढ़ावा देने के लिए और बचाने के लिए विदेशी मुद्रा अर्जित करना;
10. पिछड़े क्षेत्रों को विकसित करना; और

11. निजी क्षेत्र की कुप्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने तथा कम लाभ पर अधिक गुणवत्ता की वस्तु या सेवाएँ जनता को उपलब्ध करना।

ये उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्र के व्यापक उद्देश्य है। केन्द्र सरकार की भाँति आन्ध्र प्रदेश सरकार ने भी लोक उपक्रमों के विकास और कार्यप्रणाली में सुधार हेतु राज्य स्तर के सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों पर, 1989 में श्वेत-पत्र प्रकाशित करने वाला देश का पहला राज्य बना। इसी तर्ज पर वर्ष 1991-92 में राजस्थान सरकार ने भी लोक उपक्रमों की कार्यप्रणाली में सुधार हेतु एक उच्च स्तरीय समिति गठित की। केन्द्र सरकार पर सार्वजनिक उद्यमों पर श्वेत-पत्र प्रस्तुत करने की लगातार माँग रही है। इससे पहले भी, प्रशासनिक सुधार आयोग और संसदीय समितियों ने सरकार से बार-बार सिफारिश की है कि वह प्रत्येक सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के उद्देश्यों को स्पष्ट विवरण दे। जिससे निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के अर्थ में सार्वजनिक उद्यम की उपलब्धि का मूल्यांकन सुगम होगा। इसी संदर्भ में सरकार ने सरकार और उद्यम के बीच एक आपसी सहमति प्रणाली (MOU- मेमोरेंडम ऑफ अंडरस्टैडिंग) लागू करने की जो रीति अपनाई है वह इस दिशा में हाल में हुई एक प्रगति है।

10.2.3 सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार और अर्थव्यवस्था पर इसका प्रभाव

विकसित और विकासशील देशों में लोक-उद्यमों की आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भारत जैसे मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले देश के विकास में सामाजिक और आर्थिक ध्येयों को प्रोत्साहित करने में लोक-उद्यम एक साधन के रूप में कार्य करते है।

भारत में स्वतंत्रता से पूर्व आर्थिक और वाणिज्यिक गतिविधियों में राज्य का हस्तक्षेप कुछ ही क्षेत्रों तक समित था जैसे-रेल सेवा, डाक एवं तार, बंदरगाहों तथा आयुध कारखाने इत्यादि। स्वतंत्रता के पश्चात् देश के विकास से सम्बन्धित नीति के संदर्भ में विवेकपूर्ण निर्णयों के परिणामस्वरूप लोक-उपक्रमों का विकास तेजी से हुआ है। औद्योगिक नीति लक्ष्य को हमने संविधान में राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों से प्राप्त किया और इन सिद्धान्तों के आधार पर राज्य की नीति का लक्ष्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के आधार पर समाजवाद की स्थापना करके लोगों का सुधार करना है। परिणामस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र की गतिविधियों तथा उत्पादनों के क्षेत्र में जबरदस्त विस्तार हुआ। इनमें इस्पात- निर्माण, मशीन, औजार, लोह और अलौह खनिज, कच्चे तेल पिराई और शोधन, वैधुत और निर्माण उपकरण, कोयले का उत्खनन, कपड़ा, सीमेंट, दूरसंचार, उपभोक्ता व्यापार और सेवा, अखबारी कागज का उत्पादन जैसी कई अन्य महत्वपूर्ण गतिविधियाँ भी सम्मिलित है। कुल औद्योगिक उत्पादन में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान पेट्रोलियम, सीसा, इलेक्ट्रोमैकेनिकल टेलीप्रिंटर्श, सीसा के क्षेत्र में (100 प्रतिशत) तक है।

देश के आर्थिक विकास को और तीव्र गति प्रदान करने हेतु पिछले दो दशकों में सार्वजनिक क्षेत्र में व्यापक पूँजी निवेशों को बढ़ावा दिया गया है, जिससे इनकी स्थिति काफी अच्छी बनी रही है, ताकि अर्थव्यवस्था के केन्द्रीय क्षेत्रों की गति मे तेजी लाया जा सके, सामाजिक महत्व के उद्यमों जैसे- रेल सेवा, प्रतिरक्षा, दूरसंचार आदि की उपकरण क्षेत्रों को आत्मनिर्भर बानाया जा सके।

सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा सार्वजनिक उपभोग की वस्तुओं जैसे- खाद्य उद्योगों, औषधों तथा होटलों आदि उपभोक्ता उन्मुख उद्योगों की वृद्धि हुई है, जिससे जन-उपभोग की वस्तुएँ और आधिक सहजता से उपलब्ध तथा सुनिश्चित हो सकी हैं तथा अन्य महत्वपूर्ण उत्पादों की कीमतों पर अंकुश/रोक लगाने में भी सफलता हासिल हुई है।

राष्ट्रीय तथा अंर्तराष्ट्रीय व्यापार, परामर्श, अनुबन्ध (ठेका) और भवन निर्माण संबंधी गतिविधियाँ और संचार आदि क्षेत्रों में अनेक सार्वजनिक उद्यम काम कर रहे हैं। देश में तेज गति से आर्थिक वृद्धि करने तथा नियोजित विकास के तहत सामाजिक तथा आर्थिक वर्तमान समय में सार्वजनिक क्षेत्र में और भी उद्योग और गतिविधियाँ शामिल हो गई है।

9 अप्रेल, 2018 को विज्ञान भवन नई दिल्ली में आयोजित केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम (CPSEs) सम्मेलन- विजन 2022 के अपने संबोधन में प्रधानमंत्री ने कहा कि सरकार CPSEs से जुड़ी दिक्कतों को दूर करने के लिये लगातार काम कर रही है। बीते चार सालों में सरकार ने भी सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़े संस्थानों को (Operational Freedom) परिचालन/संचालन स्वतंत्रता दे दी है ताकि वो बेहतर प्रदर्शन कर देश की अर्थव्यवस्था को तीव्रता पूर्वक सुदृढ़ कर सके। आज सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम भारत की अर्थव्यवस्था को न सिर्फ मजबूती दे रहे है बल्कि औद्योगिक गतिविधियों में उत्प्रेरक का भी काम कर रहे है।

निजी क्षेत्रों की भाँति लाभ कमाना सार्वजनिक क्षेत्रों के लिए भी अहम है। लेकिन साथ-साथ उनकी एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी सामाज के कल्याण की भी होती है और इन्हें इसका ध्यान रखना होगा की वे समाज के लिए अधिक से अधिक लाभ उत्पन्न करें।

सार्वजनिक क्षेत्र में लगातार हो रही तेजी के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था पर उत्पादन, संसाधनों के निर्माण, रोजगार तथा देश में संतुलित क्षेत्रीय विकास पर सकारात्मक असर हुआ है। जिसकी चर्चा हम संक्षेप में निम्न रूप से कर सकते हैं-

1. **पूँजी निवेश-** स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में पूँजीनिवेश में लगातार वृद्धि हुई है। जहाँ वर्ष 1951 में इसकी संख्या पाँच थीं और कुल विनियोजित पूँजी 29 करोड़ थी वहीं वर्ष 2015-16 तक इसकी संख्या बढ़कर 244 और विनियोजित पूँजी बढ़कर 1938795 करोड़ हो गई है। सार्वजनिक क्षेत्र में पूंजी निवेश में निरन्तर वृद्धि होती रही है, जिसका सकारात्मक प्रभाव उनकी कार्य क्षमता, दक्षता और उत्पादन पर पड़ा है।
2. **टर्न-ओवर (कुल बिक्री)-** सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का कितना विस्तार हुआ है इसका विश्लेषण हम सार्वजनिक उद्यमों के टर्न- ओवर (व्यवसाय में होने वाली कुल खरीद- बिक्री की राशि) के आधार पर भी कर सकते हैं। जहां वर्ष 2006-07 में कुल सकल कारोबार 964890 करोड़ रूपये था, वहीं ये 2015-16 में बढकर 1854677 करोड़ रूपये हो गया। अत: स्पष्ट है कि सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार का प्रभाव सार्वजनिक उपक्रमों के टर्न ओवर पर भी पड़ा है। इसमें लगातार वृद्धि पायी गई है। इस टर्न ओवर की अधिकांश राशि तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग, भारतीय तेल निगम, भारतीय इस्पात प्राधिकरण और भारतीय खाद्य निगम जैसे उघमों से है। स्पष्ट है कि भारत की कुल अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका में नियोजन के बाद से तेजी से वृद्धि दर्ज की जा रही है।
3. **अवसंचना विकास-** भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था को ध्यान में रखते हुए सार्वजनिक क्षेत्र ने आर्थिक विकास की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया है। निजी क्षेत्र की भागीदारी कई क्षेत्रों में महत्वपूर्ण साबित हो रही है। रेल, सड़क, समुद्री तथा वायु यातायात व्यवस्था में दिनोंदिन जबरदस्त सुधार हो रहा है। विद्युत, ऊर्जा, कृषि आदि के क्षेत्र में भी प्रर्याप्त विस्तार हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप औद्योगिक और कृषि के क्षेत्र में नई तकनीकों के साथ विकास और विस्तार हुआ है।
4. **संतुलित क्षेत्रीय विकास-** 1970 के दशक में भारत सरकार के योजना आयोग ने संतुलित क्षेत्रीय विकास हेतु विभिन्न राज्यों के पिछड़े क्षेत्रों को चिन्हित करके उनके पिछड़ेपन को दूर करने के लिए अनेक योजनाएँ बनाई एवं सम्बन्धित राज्यों को उन योजनाओं के क्रियान्वयन हेतु फंड मुहैया करवाया। इसी क्रम में सार्वजनिक क्षेत्र ने भी संतुलित क्षेत्रीय विकास लाने और देश की आर्थिक गति को तेज करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। स्वतंत्रता से पूर्व उद्योगों का जमावड़ा बम्बई, मद्रास और कलकत्ता जैसे शहरों तक ही सीमित था, जिसके कारण देश के अन्य भाग विकास की दौड़ में पिछड़ते जा रहे थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने देश के पिछड़े क्षेत्रों में भी अपना ध्यान केन्द्रीत किया ताकि देश का समग्र विकास हो सके एवं क्षेत्रीय असंतुलन को समाप्त किया जा सके। सरकार की दूरर्शिता के परिणाम स्वरूप पिछड़े क्षेत्रों को

चिन्हित कर उन क्षेत्रों में बड़े उपक्रमों को स्थापित करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की निवेशित पूँजी को काफी मात्रा में इस ओर लगाया गया। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का सभी राज्यों और केन्द्र शासित राज्यों में स्थापित होना एक प्रशंसनीय कदम रहा क्योंकि इससे न केवल क्षेत्रीय संतुलन बनेगा बल्कि इससे सहायक और लघु उद्योगों में वृद्धि होगी एवं रोजगार सृजन के नए अवसर भी उपलब्ध होंगे।

5. **रोजगार-** सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार ने रोजगार सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 1989 के आँकड़ों के अनुसार केन्द्र के सार्वजनिक क्षेत्र के 232 उपक्रमों में 22.93 लाख लोगों को रोजगार उपलब्ध था वहीं अगर हम 2016-17 के आँकड़ों का अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में 15 लाख से अधिक लोगों को CPSEs के द्वारा रोजगार उपलब्ध कराया गया है जिसमें 11.31 लाख स्थायी कर्मचारी, 3.39 लाख संविदा कर्मचारी और 54000 सामयिक/आकस्मिक कर्मचारी कार्यरत है।

इस प्रकार हम पाते है कि सार्वजनिक क्षेत्र एक आदर्श नियोक्ता बन रहा है और साथ ही साथ यह अपने अधिकांश उपक्रमों के विशेषकर दुर्गम क्षेत्रों या गाँवों या कस्बों में स्थित परियोजनाओं में कार्यरत कर्मचारियों को आवास, चिकित्सा, शिक्षा आदि की सुविधाएँ देने तथा उनकी सामाजिक जिम्मेदारियों के निर्वाह में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। साथ ही साथ CPSEs अपने कर्मचारियों की उत्पादन क्षमता एवं दक्षता को बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण और पुर्नप्रशिक्षण कार्यक्रमों की व्यवस्था करता है। सार्वजनिक क्षेत्रों द्वारा देश के आंतरिक संशाधनों के निर्माण में विशेष ध्यान दिया जा रहा है। देश में संसाधनों की कमी को दूर करने के लिए यह एक सार्थक प्रयास सिद्ध हो रहा है। इसके साथ ही साथ यह प्रयास किया जा रहा है कि औद्योगिक उत्पादों को स्थानीय उत्पादन के जरिए पूरा किया जा सके जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों द्वारा उत्कृष्ट प्रयास किया जा रहा है तथा निर्यात को प्रोत्साहन दिया जा रहा है जिससे देश को औद्योगिक एवं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाया जा सके।

निःसंदेह केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों ने देश के आर्थिक विकास की नींव रखी है। सभी क्षेत्रों में लोक उद्यमों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है विशेषकर सामरिक महत्त्व एवं कोर क्षेत्र में (जैसे- कोयला, कच्चा तेल, उर्वरक, स्टील, पेट्रो रिफाइनिंग, बिजली और नेचुरल गैस) आज के वैश्वीक युग की प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने के लिए लोक उपक्रमों को और अधिक सशक्त और तकनीकी रूप से अपने आप को तैयार करना होगा।

अब इस बात का विश्लेषण करने का समय आ गया है कि किस प्रकार लोक उपक्रमों को और अधिक उपयोगी और उत्पादक बनाया जाए। सरकार का इस ओर भी ध्यान है कि कौन-कौन से उद्यम घाटे में चल रहे है और किस प्रकार उसका कायापलट कर उसे मुनाफा कमाने वाली श्रेणी में लाया जा सके।

पिछले तीन वर्षों के दो महत्वपूर्ण मापदण्ड़ो निवेश और शुद्ध लाभ (Investment and Net Profit) के आँकड़ों के अध्ययन से पता चलता कि 2014-15 के मुकाबले 2016-17 में निवेश में 14 प्रतिशत की वृद्धि हुई है वहीं शुद्ध लाभांश (Net Profit) की बात की जाए तो लोक उद्यमों का शुद्ध लाभ में 23.30 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

लाभ कमाने वाले पाँच महत्वपूर्ण लोक उपक्रमों की बात करे तो वर्ष 2016-17 के आँकड़ो के अनुसार- (1) पेट्रोलियम, (2) कच्चा तेल, (3) विद्युत उत्पादन, (4) वित्तीय सेवाएँ और (5) कोयला इनमें से प्रत्येक क्षेत्रों ने सरकार को 10,000 करोड़ से भी ज्यादा का शुद्ध लाभ दिया है। लोक उद्यमों का कार्य क्षेत्र अब समाज के उत्थान में भी हो रहा है। सरकार द्वारा चलाई जा रही कई महत्वपूर्ण योजनाएँ जैसे- स्वच्छ भारत, स्वस्थ भारत, शिक्षा, ग्रामीण विकास, कौशल विकास, पर्यावरण, सौर ऊर्जा, कला, संस्कृति एवं ऐतीहासिक धरोहरों आदि क्षेत्रों में भी सार्वजनिक क्षेत्रों द्वारा महत्वपूर्ण योगदान दिया जा रहा है ताकि 'न्यू इण्डिया' के संकल्प के लक्ष्य को पूर्णतः हासिल किया जा सके। केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम सम्मेलन- विजन 2022 जो कि 9 अप्रेल, 2018 को विज्ञान भवन, नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ उसमें सरकार ने साफ कर दिया कि लोक उद्यमों को राष्ट्र के निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण योगदान को सुनिश्चित करना होगा ताकि विजन 2022 के 'न्यू इण्डिया' के सपने को साकार किया जा सके।

अभ्यास प्रश्न-

1. 1951 में जब नियोजन प्रक्रिया आरम्भ हुई थी, तब देश में केन्द्र सरकार के सार्वजनिक उद्यमों की संख्या कितनी थी?
2. लोक उपक्रमों की स्थापना के पीछे क्या उद्देश्य है?
3. वर्ष 2014-15 के मुकाबले वर्ष 2016-17 में सार्वजनिक उपक्रमों के निवेश में कितने प्रतिशत की वृद्धि हुई है?
4. वर्ष 2015-16 में चालू/काम करने वाले केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की संख्या कितनी है?
5. वर्ष 2016-17 में लाभ कमाने वाले पाँच महत्वपूर्ण लोक उपक्रम कौन-कौन से है?
6. केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम सम्मेलन-विजन-2022 कब और कहाँ सम्पन्न हुआ?

10.3 सारांश

लोक उद्यमों की स्थापना के मूल में राष्ट्रीय सुरक्षा, देश का सन्तुलन आर्थिक व औद्योगिक विकास, उत्पादन का समान वितरण, माँग एवं पूर्ति में संतुलन, राजस्व में वृद्धि, प्राकृतिक संसाधनों का विकास, उद्योगों की कार्यक्षमता में वृद्धि, निर्यात व्यापार में वृद्धि, विदेशी मुद्रा प्राप्त करना, प्रबन्ध का वैज्ञानिकरण, आर्थिक व सामाजिक असमानताओं को कम करना, मूल्य नियंत्रण में सहयोग, बचत को प्रोत्साहित करना, निवेश वृद्धि तथा देश की अर्थव्यवस्था में सक्रिय भागिदारी सुनिश्चित करना, जनता का सर्मपन भाव से सेवा करना एवं जनसहभागिता को बढ़ावा देना तथा संतुलित क्षेत्रीय विकास को बढ़ावा देने जैसे महत्वपूर्ण कार्यों का निर्वाह सक्रियता एवं सकारात्मकता पूर्वक किया जा रहा है।

राष्ट्र निर्माण में केन्द्रीय सार्वजनिक लोक उद्यमों के योगदान में हरेक की भागीदारी सुनिश्चित हो, चाहे वो दूर-दराज में स्थित छोटा कर्मचारी हो या फिर मुख्यालय के बड़े अधिकारी इन सब के बीच समन्वय हो ताकि हर समस्या का निदान हो सके जिससे लोक उपक्रमों को 'न्यू इण्डिया' के निर्माण विजन-2022 के सपने को साकार करने में सरलता पूर्वक सफलता मिल सके।

10.4 शब्दावली

लोक कल्याणकारी- जिसमें जनता का कल्याण निहित हो,

सार्वजनिक उद्यम- सरकारी उद्ययोग

विशुद्ध- पूर्ण रूप से शुद्ध मिश्रित अर्थ व्यवस्था-जिसमें सरकारी एवं निजी दोनों क्षेत्र विद्यमान होते है,

सार्वजनिक क्षेत्र- जिसमें सरकार की समस्त आर्थिक गतिविधियाँ शामिल होती है, विभागीय प्रबंध- विभागों द्वारा प्रबंध करना, स्वामित्व- एक ही व्यक्ति व्यवसाय का स्वामी होता है, वाणिज्यिक- व्यापारिक, आंशिक-थोड़ा या अल्प, प्रक्रियात्मक- प्रक्रिया के रूप में होने वाला, वैधानिक- कानूनी, प्रतिष्ठान- संस्था, एम0ओ0यू0- आपसी सहमति प्रणाली, श्वेत पत्र- एक सरकारी दस्तावेज जिसमें किसी विशेष विषय पर सरकार की नीति दी जाती है, या स्पष्ट की जाती है।

अवसंरचना- ऐसे संगठन जिनकी गतिविधियाँ आगे के आर्थिक विकास के लिए आधार तैयार करने में अप्रत्यक्ष रूप से मदद देती है।

टर्न ओवर- सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में, इसका अर्थ होता है किसी संगठन द्वारा बेचे गए सामान या कुल बिक्री की कुल कीमत।

शुद्ध लाभांश- किसी उपक्रम/कम्पनी के कमाये गये मुनाफों का अंश, यह उस कम्पनी के शेयर धारकों को मिलता है, चाहे वह सरकार हो या व्यक्ति।

पुर्नप्रशिक्षण- इसका अर्थ होता है विशेषज्ञता को पुराने क्षेत्र में विस्तृत प्रशिक्षण, या विशेषज्ञता के नए क्षेत्र में प्रशिक्षण

10.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. पाँच, **2.** आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका सुनिश्चित करना, स्वस्थ प्रतिस्पर्धा तथा मूल्य नियंत्रण करना, रोजगार के अवसर उपलब्ध करना, सामाजिक- आर्थिक समानता लाना तथा क्षेत्रीय संतुलन स्थपित करना इत्यादि, **3.** 14 प्रतिशत, **4.** 244, **5.** पेट्रोलियम, कच्चा तेल, विद्युत उत्पादन, वित्तीय सेवाएँ तथा कोयला, **9**. अप्रेल, 2018 विज्ञान भवन, नई दिल्ली।

10.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. भारतीय प्रशासन, अवस्थी एवं अवस्थी।
2. लोक प्रशासन, अवस्थी एवं माहेश्वरी।
3. राज्य प्रशासन, सुरेन्द्र कटारिया।
4. भारतीय प्रशासन, श्री राम माहेश्वरी।
5. लोक प्रशासनः नये क्षितिज, इन्द्रजी कौर।
6. लोक प्रशासन, पुखराज जैन।
7. विकास प्रशासन, आनन्द प्रकाश अवस्थी।
8. विकास प्रशासन (ई0पी0ए0-3, इकाई-26, इग्नू)

10.7 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. Public Sectors in India, S.K.Singh.
2. Administration of Public Enterprises in India, Jagdish Prakash & Nageshwar Rao, Mata Badal Shukla
3. विकास प्रशासन (ई0पी0ए0-3 इकाई-26, इग्नू)
4. Management of Public Enterprises (M S-92,unit-1, GNOU)
5. Public Enterprises Survey, 2015-16 volume-I, Government of India Ministry of Heavy Industries and Public Enterprises, Department of Public Enterprises.
6. Government of India, Department of Public Enterprises, CPSEs, Conclave-VI si on 2022, Monday, 9th Apr l, 2018, Vigyan Bhavan,New Delh .
7. www.dpe.gov.in

10.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सार्वजनिक क्षेत्र और सार्वजनिक उद्यम के अर्थ की व्याख्या कीजिए।
2. सार्वजनिक क्षेत्र के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
3. भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्भव एवं विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. सार्वजनिक क्षेत्र के विकास का भारतीय अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा है? व्याख्या कीजिए।

इकाई- 11 सार्वजनिक उद्यम के स्वास्थय/स्वरूप

ईकाई की संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 विभागीय उपक्रम/उद्यम
    11.2.1 सार्वजनिक निगम
    11.2.2 सरकारी कम्पनी
    11.2.3 सार्वजनिक उद्यमों के लिए संगठन के स्वास्थय/स्वरूप का चयन
11.3 संगठन के दूसरे स्वरूप
11.4 संयुक्त उद्यम
11.5 सार्वजनिक उपक्रमों के लिए एक समग्र संगठन की आवश्यकता
11.6 सारांश
11.7 शब्दावली
11.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
11.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य समग्री
11.11 निबन्धात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

जैसा कि हम आगे की इकाई में पढ़ चुके हैं, भारतीय संविधान ने राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धातों में सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया है, एकाधिकारी प्रवृत्ति पर रोक लगाने की बात कही गई है और आर्थिक नियोजन के लक्ष्यों की प्राप्ति, सन्तुलित क्षेत्रीय विकास, समाजवादी समाज की रचना तथा रोजगार के अवसरों में वृद्धि आदि के लिए कार्य करने का राज्य को निर्देश दिया गया है। जिसके परिणामस्वरूप नियोजन का यह प्रभाव हुआ कि भारत में सार्वजनिक क्षेत्र ने देश की आर्थिक विकास की नींव रखी और आर्थिक विकास के मामलों में महत्वपूर्ण भूमिका हासिल कर ली। सभी क्षेत्रों में लोक उपक्रमों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है विशेषकर सामरिक महत्व एवं कोर क्षेत्र जैसे (कोयला, कच्चा तेल, उर्वरक, स्टील, बिजली और नेचुरल गैस तथा पेट्रो रिफाइनिंग) आदि जैसे उद्योगों में सार्वजनिक क्षेत्र की इकाईयाँ स्थापित हो गई है। इसके साथ ही सरकार ने कुछ महत्वपूर्ण वित्तीय संस्थाओं जैसे- भारतीय रिजर्व बैंक, बीमा कम्पनियाँ आदि को अपने संरक्षण में ले लिया है, और अर्थव्यवस्था को विभिन्न वित्त प्रदान करने वाली अनेक वित्तीय संस्थाओं का गठन किया है।

इस इकाई में हम सबसे पहले संगठन के तीनों वर्गों- विभागीय उपक्रम, वैधानिक/सार्वजनिक निगम तथा सरकारी कम्पनी की विशेषताओं का अध्ययन के साथ-साथ सार्वजनिक उद्यम संगठन के दूसरे रूपों का भी अध्ययन करेंगे, जैसे- नियंत्रण परिषद, संचालन अनुबंध (ठेका) और क्षेत्र निगम। इसके अतिरिक्त हम इस इकाई में सार्वजनिक उद्यमों के लिए एक समग्र संगठन होने की आवश्यकता और संयुक्त उद्यम की अवधारणा पर भी विस्तृत चर्चा करेंगे।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विभागीय उपक्रम, वैधानिक, सार्वजनिक निगम, तथा सरकारी कम्पनी के स्वरूप की मुख्य विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- सार्वजनिक उपक्रमों के लिए संगठन के किस रूप का चयन किया जाए, इसकी विवेचना कर सकेंगे।
- संगठन के दूसरे स्वरूपों की विशेषताओं का विवरणात्मक अध्ययन कर सकेगें।
- संयुक्त उद्यम की अवधारणा की व्याख्या कर सकेंगे, तथा
- सार्वजनिक उपक्रमों के लिए समग्र संगठन होने की आवश्यकता का अध्ययन कर समझ सकेंगे।

11.2 विभागीय उपक्रम/उद्यम

भारत में विभागीय उद्यम सार्वजनिक उद्यमों के संचालन का पारंपरिक और सबसे पुरातन रूप है। विभागीय संगठन के अंतर्गत जो उद्यम है, उनका संगठन, संचालन, नियंत्रण तथा वित्त की व्यवस्था सरकारी विभागों की तरह होता है। भारत में यह उद्यम थे- केन्द्रीय स्तर पर डाक व तार, रेलवे, सुरक्षा उत्पादन, बन्दरगाह, संचार, सरकारी छापाखाना, मुद्रा-निर्माण तथा आणविक ऊर्जा परियोजनाएँ इत्यादि। राज्य स्तर पर बिजली, सड़क यातायात, डेरी योजना तथा सिंचाई इत्यादि का प्रबंध अभी भी विभागीय संस्थान के द्वारा किया जाता है।

1. विभागीय उपक्रम/उद्यम मुख्य विशेषताएँ

- सरकार द्वारा गठन- विभागीय संगठनों की स्थापना सरकार की कार्यपालिका शाखा द्वारा एक प्रस्ताव के माध्यम से होता है। सरकार की कार्यपालिका शाखा सम्बन्धित विभागीय उद्यम के लिए संसद में एक प्रस्ताव लाती है जिसे वह बहुमत के साथ स्वीकृति प्रदान करती है।
- सरकार द्वारा वित्त प्रबन्ध- सरकार द्वारा गठित किये गये विभागीय उद्यमों के संचालन हेतु वित्त की व्यवस्था सरकारी खजाने से की जाती है। इसके अतिरिक्त, इनसे प्राप्त राजस्व का पूरा अथवा अधिकांश हिस्सा/भाग सरकार के राजकोष में जाता है। इन उपक्रमों के लिए धन के लेन-देन की व्यवस्था सरकार बजट के माध्यम से करती है।
- सरकारी नियंत्रण- विभागीय उपक्रमों पर प्रभावी नियंत्रण हेतु सरकार इन्हें सीधे विभागीय अध्यक्ष के नियंत्रण में रखती है, जो सरकार के मंत्री होते है और सम्बन्धित विभागीय मंत्री उद्यम की समस्त गतिविधियों के लिए उत्तरदायी होता है।
- लेखांकन एवं परीक्षण- ऐसे सभी प्रकार के विभागीय उपक्रमों के लेखा और लेखापरीक्षण की व्यवस्था सरकार अपने द्वारा निर्मित नियमों- विनियमों के साथ पूरी करती है।
- जवाबदेयता- उद्यमों की जवाबदेयता सीधे तौर पर सम्बन्धित विभागीय अध्यक्ष अर्थात मंत्री की होती है, जो अपने विभाग से जुड़े उद्यमों के लिए संसद के प्रति जवाबदेय होता है।
- भर्ती एवं सेवा शर्तें- विभागीय उद्यमों के स्थायी कर्मचारी लोक-सेवा के सदस्य होते है। उनकी भर्ती तथा सेवा शर्तें लोक सेवा के कर्मचारियों के समान होती है अर्थात नागरिक सेवा नियम इन पर समान रूप से लागू होते हैं।
- विधिक पद्धति- देश के विधिक पद्धति के अनुसार यह राज्य को प्राप्त सर्वोच्च उन्मुक्ति का उपभोग करते हैं। सरकार की सहमति के बिना इन पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

2. विभागीय संगठन/उपक्रम/उद्यम के प्रकार

विभागीय संगठन/उपक्रम/उद्यम तीन प्रकार के होते हैं-

- स्वतंत्र मन्त्रालयी उद्यम- इस प्रकार के विभागीय उद्यम सीधे मंत्रालय के रूप में कार्य करते है। जैसे- रक्षा मंत्रालय, गृह मंत्रालय आदि।
- अधीनस्थ मन्त्रालयी उद्यम- इस प्रकार के विभागीय उद्यम सीधे मंत्रालय के अधीन रहकर कार्य करते हैं।
- अर्न्तविभागीय समिति या मण्डलीय उद्यम- इस प्रकार के संगठन किसी विशेष उद्योग की आवश्यकता को पूरा करने के उद्देश्य से संचालित किये जाते है।जैसे-भाखरा-नांगल बाँध परियोजना, हीराकुण्ड जल विद्युत परियोजना आदि।

3. संगठन के विभागीय उपक्रम/उद्यम के लाभ

- संगठन के विभागीय उपक्रम/उद्यम के निम्नलिखित लाभ होते हैं-
- उत्तरदायित्व, एकरूपता, एकीकरण एवं समन्वय इसके प्रमुख लाभ है।
- यह प्रत्यक्ष मंत्रीय नियंत्रण में रहता है और संसद के प्रति जवाबदेह होता है।
- विभागीय उद्यम रूपी इसी संगठन के मानक, नियम तथा पैटर्न (ढाँचा) निर्धारित होते हैं।
- इसमें संगठनात्मक और प्रक्रियात्मक समरूपता पायी जाती है।
- इससे प्रशासनिक सेवाओं और संस्थानों में समन्वय और सहयोग स्थापित होता है।
- इसमें उद्यमों का प्रशासन वरिष्ठ लोक-सेवकों के माध्यम से किया जाता है तथा इन पर वित्तीय नियंत्रण राजकोष द्वारा किया जाता है।

4. संगठन के विभागीय उपक्रम /उद्यम के दोष

भारतीय प्रशासनिक सुधार सम्बंधी अध्ययन के लिए श्री ए0डी0 गोरवाला के नेतृत्व में संगठित समिति ने 1957 में प्रकाशित अपने प्रतिवेदन में सार्वजनिक उद्यमों के लिए विभागीय संगठन को अनुपयुक्त बताया। इसी प्रकार भारत में लोक उद्यमों पर कृष्ण मेनन रिपोर्ट में इस प्रकार के संगठन की कमियों या दोष का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं-

- इसके कर्मचारियों पर लोक-सेवा के सदस्यों के नियम लागू होते हैं। अतः इससे पदोन्नति में विलम्ब और आवश्यक अनुशासनात्मक कार्यवाही सम्भव नहीं हो पाती है।
- वित्त के प्रबन्ध के लिए जो प्रक्रिया होती है वह बहुत ढीली-ढाली होती है, उदाहरण के लिए, यदि किसी खर्च के लिए पैसा लेना हो तो सरकार से उसके लिए अनुमति लेनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त और मामलों में भी ऐसी ही सुस्त प्रक्रिया अपनायी जाती है।
- विभागीय संगठन में लेखा एवं लेखा परीक्षण की पद्धति अत्यन्त जटिल होती है।
- कच्चे मालों की खरीद तथा उत्पादनों की बिक्री के विभागीय तरीके भी जटिल नियमों से बंधे होते है।
- उद्यम संबंधी स्वतंत्रता का अभाव इस प्रकार के संगठन में पाया जाता है।

अतः इन दोषों को दूर करने के लिए कुछ विभागों में इसके उपचार के सम्बंध में बोर्डों की रचना सम्बंधी कदम उठाए गए हैं, परन्तु यह उपाय प्रत्येक विभाग के लिए अपनाना सम्भव नहीं है। प्रो0 डिमॉक ने तो यहाँ तक कहा कि अगर विभागीय प्रारूप में नम्यता और स्वायत्ता की दिशा में सुधार कर दिया जाए तो निगमों की स्थापना की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी।

11.2.1 सार्वजनिक निगम

सार्वजनिक या लोक निगम का उदय इस शताब्दी की प्रशासनिक खोज की एक महत्वपूर्ण उपलब्धी है। वर्तमान में लोक कल्याणकारी राज्य के कार्यों का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि वह अपने दायित्वों का पालन प्रशासन की परम्परागत इकाई- विभाग से नहीं कर सकता। उसे अन्य प्रभावशाली इकाईयों की आवश्यकता महसूस हुई जिसके लिए उसने एक अन्य प्रशासनिक ढांचा खड़ा किया जो राजकीय महत्व के उद्योगों पर राजकीय नियंत्रण के साथ-साथ जन-सुविधा एवं कल्याण का भी ध्यान रखे। उस पर अप्रत्यक्ष रूप से राज्य का नियंत्रण हो ऐसे संगठनों को "लोक निगम" कहते है।

लोक- निगम सूत्र अभिकरण होते हुए भी विभागों तथा स्वतंत्र नियामकीय आयोगों से भिन्न होता है। यह सार्वजनिक उद्यमों को प्रबंध करने के लिए अपनाए गए नवीन प्रकरण हैं। इसमें लोक तथा निजी प्रशासन दोनो के गुण पाए जाते हैं तथा यह दोनों प्रशासनों के अन्तर को कम करने में एक "सेतु" का काम करता है।

वास्तव में लोक निगमों की स्थापना इस जरूरत को पूरा करने के लिए की गई कि वह औद्योगिक कार्यों को सफलता पूर्वक सरकार के विभागीय संगठन पद्धति से अलग रहकर अन्वेषणात्मकता एवं प्रक्रियात्मक लचीलेपन के साथ पूरा करे। जैसा कि देखा जा चुका है कि विभागों में व्याप्त प्रक्रियात्मक जटिलताएँ, अत्यधिक नियंत्रण, "उचित मार्ग" (Through Proper Channel) की बाध्यता एवं जीवनकालिक सेवा की धारणा उद्यमी आवश्यकताओं के विकास में बाधक सिद्ध होती है। अतः ऐसी व्यवस्थाओं से अलग एक ऐसे संगठन की आवश्यकता प्रतीत होती है जो "मध्य मार्ग" अनुसरण कर सके। अतः सार्वजनिक निगम पूर्ण स्वायत्ता और पूर्ण नियंत्रण के मध्य सम्यक सन्तुलन को प्राप्त करने का आदर्श उपाय है।

केन्द्र सरकार के कुछ महत्वपूर्ण लोक निगम निम्नलिखित हैं- भारतीय रिजर्व बैंक (1935), दामोदर घाटी निगम (1948), भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (1948), इंडियन एयरलांइस कॉरपोरशन (1953), एयर इंडिया इंटरनेशनल (1953), भारतीय स्टेट बैंक (1955), भारतीय जीवन बीमा निगम (1956), केन्द्रीय भंडार निगम (1957), तेल और प्राकृतिक गैस आयोग (1959) तथा भारतीय खाद्य निगम (1964)।

राज्य सरकारों के अधीन कुछ महत्वपूर्ण लोक निगम निम्नलिखित हैं- राज्य सड़क परिवहन निगम, राज्य वित्त निगम, राज्य विद्युत बोर्ड तथा स्टेट लैंड मॉर्टगेज बैंक्स।

1. भारत में सार्वजनिक निगमों का वर्गीकरण

- पुनर्वास वित्त निगम, औद्योगिक वित्त निगम- इसका उद्देश्य ऋण उपलब्ध कराना है।
- एयरलाइन्स, एयर इण्डिया इण्टरनेशनल, परिवहन मार्ग निगम- इसका उद्देश्य विशिष्ट उद्योग और वाणिज्य का संचालन करना है।
- दामोदर घाटी निगम- इसका उद्देश्य विशेष क्षेत्र का बहुमुखी विकास है।

2. सार्वजनिक निगम की विशेषताएँ

सार्वजनिक निगम की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

- सांविधिक (Statutory) संस्था- सरकारी कम्पनियों से भिन्न प्रत्येक लोक निगमों की स्थापना संसद द्वारा पारित एक विशेष अधिनियम द्वारा की जाती है। इस अधिनियम के तहत लोक निगम के कार्यों, कर्तव्यों, अधिकारों तथा प्रबंध एवं संचालन सम्बन्धी नितियों का उल्लेख किया जाता है।
- सरकार का पूर्ण स्वामित्व- सार्वजनिक उद्यम के मुख्य स्वरूप लोक निगम का स्वामित्व पूरी तरह सरकार का होता है। भारत में स्थापित सार्वजनिक निगमों की सम्पूर्ण पूँजी सरकार द्वारा लगायी जाती है जिसमें

कम से कम 51 प्रतिशत अंश सरकार का होता है। शेष 49 प्रतिशत पूँजी सरकार अथवा निजी क्षेत्र द्वारा भी लगाई जा सकती है।

- पृथक् वैधानिक अस्तित्व- लोक निगम की स्थापना संसद के अधिनियम द्वारा की जाती है अतः सभी सार्वजनिक निगमों का पृथक-पृथक वैधानिक अस्तित्व होता है। ऐसे संगठन अपने आप में अर्द्धन्यायिक एवं अद्ध विधायी प्रकृति के होते है तथा इनका एक वैधानिक क्षेत्र भी होता है जिसके अधीन रहकर ये किसी पर मुकदमा कर भी सकते हैं और इन पर दावा भी हो सकता है। दूसरे शब्दों में, सार्वजनिक निगम एक विधिक व्यक्ति का रूप धारण कर लेता है।
- प्रशासनिक स्वायत्तता- लोक निगमों को अपने प्रशासनिक कार्यों में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है। राजनीतिक कार्यपालिका अर्थात मंत्री-परिषद और संसद द्वारा इन पर उतना ही नियंत्रण रहता है जिससे कि उनको उत्तरदायी बनाने के साथ-साथ उनकी स्वायत्तता को अक्षुण्ण बनाए रखा जा सके ताकि इनके संचालन एवं उत्पादन पर प्रतिकुल प्रभाव न पड़े।
- वित्तीय स्वायत्तता- वित्तीय स्ववंत्रता प्रत्येक संगठन के लिए अच्छी मानी जाती है क्योंकि कोई भी कार्य बिना वित्तीय स्वायत्तता के कारगर नहीं हो सकता। औद्योगिक प्रतिष्ठानों में जहाँ हर वक्त धन एवं स्वतंत्र निर्णय की आवश्यकता होती है वहाँ तो इसका महत्व और अधिक हो जाता है। इसलिए सरकार लोक निगमों की वित्तीय व्यवस्था स्वतंत्र रखती है।
- सरकारी कार्मिक प्रबन्ध सम्बंधी स्वायत्तता- सार्वजनिक निगमों की कार्मिक व्यवस्था जैसे- भर्ती, पदोन्नती, पारिश्रमिक और अन्य सुविधाओं का भुगतान निगम द्वारा ही निर्धारित नियम और शर्तों के आधार पर होता है। इन पर सरकारी सेवा शर्तें एवं नियम लागू नहीं होते। लेकिन यह देखा गया है कि अधिकांश सार्वजनिक निगम सरकारी सेवा शर्तों को ही अपना लेते हैं। इतना ही नहीं, इन निगमों को कर्मचारियों की सेवा शर्तें निश्चित करने से पहले सरकार की अनुमति लेनी पड़ती है।
- सेवा का विशिष्ट उद्देश्य- लोक निगमों का एक विशिष्ट उद्देश्य होता है जिसके लिए वे संगठित किए जाते हैं। इनका उद्देश्य लाभ कमाना नहीं बल्कि इनका मुख्य उद्देश्य लोक सेवा एवं लोक कल्याण करना है ताकि व्यक्ति के विकास एवं उनके जीवन स्तर को ऊचाँ उठाया जा सके।
- बजट, लेखांकन एवं अंकेक्षण सम्बन्धी नियमों से मुक्त- लोक निगम के संचालक मण्डल में ही उसके बजट को पारित करने की शक्ति पायी जाती है। इसके बजट को संसद में नहीं भेजना पड़ता। इसके साथ ही साथ सार्वजनिक निगम के संगठनों में इनके लेखांकन एवं अंकेक्षण की शक्ति सरकार से अलग होकर इसके संचालक मण्डल में ही निहित होती है। लेकिन भारत में कई सार्वजनिक निगमों के लेखों का अंकेक्षण भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के द्वारा ही किया जाता है। उन सभी मामलों में जहाँ पूँजीगत खर्चे निर्धारित सीमा से अधिक हों, ऐसी अवस्था में सरकार से अनुमति लेना भी आवश्यक होता है।

3. लोक निगम के लाभ

- सार्वजनिक/लोक निगमों से मिलने वाले लाभ निम्नलिखित हैं-
- इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसका संविधान लचीला होता है और यह बहुत हद तक स्वतंत्र होता है।
- यह राजनीतिक प्रभावों और पक्षपात की भावना से मुक्त होता है।

- इसे वित्तीय स्वतंत्रता भी बहुत हद तक प्राप्त होती है जिससे कार्य सम्पन्नता में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती।
- इसके नियम तथा प्रक्रिया भी बहुत सरल होते हैं और सरकारी विभागों की तरह इसमें लालफीताशाही का अवगुण नहीं होता।
- इसके कर्मचारी असैनिक सेवा के नहीं होते, अतः यह अपने कर्मचारियों पर उचित नियंत्रण स्थापित कर सकता है तथा उनके कार्यों का सूक्ष्मता से निरीक्षण कर सकता है।

4. लोक निगम की हानियाँ

सार्वजनिक/लोक निगम से होने वाली हानियाँ निम्नलिखित हैं-

- लोक निगम एवं सरकार में कई बार क्षेत्राधिकार की समस्या बनी रहती है। इसका कार्यक्षेत्र औद्योगिक एवं व्यापारिक कार्यों तक ही सीमित है। निगमों के संचालन-मण्डलों में सरकारी अधिकारियों की उपस्थिति से कार्यपालिका का हस्तक्षेप बढ़ने लगता है। अतः दोनों क्षेत्रों में संघर्ष चलता रहता है, जिससे कार्य-संपादन में रूकावट उत्पन्न होती है।
- निगम का प्रयोग सिर्फ सीमित उद्योगों के लिए ही किया जा सकता है। सिर्फ व्यापारिक दृष्टि से कार्य करने के लिए तो संयुक्त पूँजी पद्धति की ही व्यवस्था अधिक अच्छी है। संयुक्त पूँजी कम्पनी की स्थापना भी निगम से आसान है, इसकी स्थापना के लिए सिर्फ भारतीय कम्पनी विधि के अर्न्तगत उसको पंजीकृत कराना होता है, जबकि एक निगम की स्थापना के लिए संसद को एक विशेष कानून बनाना पड़ता है। बदलते युग में अधिनियम बनने की प्रतीक्षा करना उद्योगों के लिए नुकसानदेह है।
- भारत में सरकारी निगमों का सबसे बड़ा दोष यह है कि निगम के अध्यक्ष-पद पर प्रशासकीय सेवाओं के सदस्यों को ही नियुक्त कर दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप वह अपने आप को दलगत राजनीति से अलग नहीं कर पाता और इस स्थिति में लोक निगमों की स्थापना का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

11.2.2 सरकारी कम्पनी

सरकारी कम्पनी की स्थापना सार्वजनिक उद्योगों के संचालन का एक अन्य तरीका है। सरकारी कम्पनियाँ जिन्हें मिश्रित स्वामित्व की कम्पनियाँ भी कहा जाता है का प्रयोग सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादन कार्यों से सम्बन्धित उद्यम को सम्पन्न करने के लिए किया जाता है। भारत में केन्द्रीय, एवं राज्यों की सरकारें दोनों ही इसके पक्ष में है। इसमें आर्थिक पक्ष इतना प्रधान होता है कि इसे विधिक या संगठनात्मक पद्धति के स्थान पर आर्थिक धारणा के रूप में देखा जाता है। ये कम्पनियाँ संयुक्त पूँजी व्यवस्था के आधार पर कार्य करती हैं अतः इन्हें संयुक्त पूंजी कम्पनी के नाम से भी जाना जाता है। भारत में भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 अपनाया गया है जिसके अनुसार- "सरकारी कम्पनी से तात्पर्य ऐसी कम्पनी है जिसकी प्रदत पूंजी का कम से कम 51 प्रतिशत भाग केन्द्रीय या राज्य सरकार या राज्य सरकारों या आंशिक रूप से केन्द्रीय सरकार या आंशिक रूप से एक या एक से अधिक राज्य सरकारों के पास हो तथा इसमें वह कम्पनी भी शामिल है जो किसी कम्पनी की सहायक कम्पनी है।" किसी भी उद्यम में अंशधारी, निजी संस्थान या सामान्य जनता में से कोई भी हो सकता है। आधुनिक युग में यह व्यवस्था काफी लोकप्रिय होती जा रही है।

सरकारी कम्पनी की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. सरकार का पूर्ण स्वामित्व- इसकी सम्पूर्ण पूँजी या कम-से कम 51 प्रतिशत पूँजी का स्वामित्व सरकार के हाथों में होता है।

2. कानून द्वारा अधिनियमित- इसका निर्माण एक विशेष कानून बनाकर किया जाता है जिसमें उसकी शक्तियाँ और विशेषाधिकारों की व्यख्या स्पष्ट कर दी जाती है। भारत में इसके लिए कम्पनी अधिनियम, 1956 की व्यवस्था की गयी है।
3. वैधानिक संस्था- कम्पनियाँ मुकदमा दायर कर सकती है, इनके विरूद्ध मुकदमें दायर किए जा सकते हैं; वे अपने अनुबन्ध तथा अपने नाम से सम्पत्ति अर्जित कर सकती हैं।
4. मिश्रित स्वामित्व-सरकारी कम्पनियों में संयुक्त स्वामित्व के आधार पर क्रियाओं एवं वित्त का प्रबन्ध आदि होता है। इसमें सरकार का कम से कम अंश 51 प्रतिशत होता है एवं कुछ मामलों मे निजी शेयर होल्डरों एवं उत्पादित माल की बिक्री या सेवा से होने वाली आय से प्राप्त किया जाता है।
5. प्रबन्धतन्त्र की व्यवस्था- कम्पनी के निदेशक मण्डल में सभी या अधिकांश निदेशकों को सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है। सरकार द्वारा नियुक्त निदेशकों की संख्या इस बात पर निर्भर करती है कि सम्बन्धित उद्यम/उपक्रम में निजी पूँजी किस मात्रा में लगी है।
6. लेखाकंन तथा परीक्षण से मुक्ति- सरकारी कम्पनियाँ सरकारी विभागों के सेवी-वर्ग, बजट लेखांकन और लेखा-परीक्षण विधियों एवं पद्धतियों से प्रायः स्वतंत्र रहती है। अतः इसमें निजी कम्पनियों से सम्बन्धित सभी विशेषताएँ पाई जाती है।
7. कार्मिक व्यवस्था- कुछ कर्मचारियों को छोड़कर जो कि सरकारी विभागों से आते हैं, इन कम्पनियों के शेष कर्मचारी लोकसेवा के सदस्य नहीं होते और उनकी नियुक्ति कम्पनी के द्वारा उन शर्तों पर होती है जो सरकारी विभागों में नियुक्ति के लिए लागू शर्तों से भिन्न होती है।

संगठन का कम्पनी रूप उस स्थिति में भी सुविधाजनक होता है, जब-

- किसी आपात स्थिति में सरकार को किसी विद्यमान उद्यम को अपने हाथ में लेना होता है,
- सरकार किसी उद्यम का प्रबंध निजी उद्यम की साझेदारी में करना चाहती है,
- निजी क्षेत्र के साथ होड़ होने के कारण संचालन संबंधी स्वायत्तता की आवश्यकता होती है, और
- दाता देश विशिष्ट प्रकार के संगठन रखने की बाध्यता लगाते है।

संक्षेप में कह सकते है कि सरकारी कम्पनी में संगठनात्मक सुविधा, प्रक्रियात्मक स्वायत्तता एवं कार्य के प्रति लचीलापन और व्यवसायिक प्रबंधकीय कुशलता जैसी कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

सरकारी कम्पनियों के लाभ एवं हानियाँ

सरकारी कम्पनियों के लाभ निम्नलिखित हैं-

- इससे किसी उद्यम के गठन का कार्य सरल और सुविधाजनक हो जाता है। सरकार का लक्ष्य उस उद्यम को आत्मनिर्भर बनाना होता है।
- इसको निजी उद्यमों के साथ मिलकर स्थापित किया जा सकता है।
- इससे सरकार पर पूँजीगत बोझ कम हो जाता है।
- इसका आसानी से विस्तार किया जा सकता है।
- विभागों की तुलना में कम्पनी का अच्छा संगठनात्मक अनुशासन और व्यावसायिक प्रबन्धकीय क्षमता जैसे तत्व सरकारी कम्पनियों के लिए उपयोगी माने जाते हैं।

सरकारी कम्पनियों की हानियों को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है-

- सांविधानिक आधार पर कम्पनी संरचना का सबसे प्रमुख कमी यह है कि इस पर कोई संवैधानिक जिम्मेदारी नहीं होती है। प्रो0 रॉब्सन ने उन्हें सार्वजनिक दायित्व और नियंत्रण से बचने का एक उपाय कहा है।
- इस पर राजनीतिक नियंत्रण और हस्तक्षेप बना रहता है। एक सरकारी कम्पनी उद्योग मंत्री के नियंत्रण और प्रभाव में रहती है, और अपने दलगत हितों को ध्यान में रख कर कम्पनियों का प्रयोग करते है। अतः यह एक सरकारी विभाग के अनुरूप ही कार्य करने लगते है।
- व्यवहारिक तौर पर न तो इसमें वित्तीय पहलुओं से जुड़ा लचीलापन होता है और न ही इसमें स्वायत्ता लायी जा सकती है।
- प्रो0 वी0वी0 रामनाथन के अनुसार "बाह्य रूप से यह एक स्वायत्त इकाई है, परन्तु संगठन की संरचना इस प्रकार की जाती है और मण्डलों का निर्माण का तरिका भी ऐसा होता है कि इसमें सरकारी प्रभाव अत्यन्त सरल और विस्तृत हो जाता है।"

11.2.3 सार्वजनिक उद्यमों के लिए संगठन के स्वास्थय/स्वरूप का चयन

सार्वजनिक उद्यमों के लिए एक उपर्युक्त रूप का चुनाव करना लम्बे समय से विवाद का कारण रहा है। तीनों स्वरूपों के अपने-अपने गुण एवं दोष हैं। ए0डी0 गोरेवाला के अनुसार विभागीय प्रबंध अनेक कारणों से "स्वस्थ राजकीय उद्यम परम्परा" की स्वायत्तता का प्रत्यक्ष निषेध है एवं नमनीयता पहल की क्षमता का विरोधी है। अतः इसका प्रयोग विशेष परिस्थितियों में ही किया जाना चाहिए, विशेषकर जब गोपनीयता, सामरिक महत्व के या सुरक्षा संबंधी आधार वाले प्रतिरक्षा से सम्बंधित उपक्रमों की दृष्टि से आवश्यक हो। आकलन समिति ने अपनी 16 वीं रिपोर्ट (1954-55) में इस समस्या पर चर्चा करते हुए अपने अनुमोदन में कहा कि विभागीय रूप वाले उपक्रम को नहीं अपनाना चाहिए और इसके बदले कम्पनी रूप को अपनाने की सिफारिश की।

भारत में कम्पनी रूप को औद्योगिक और निर्माण संबंधी उद्योगों के लिए चुना गया है। लेकिन भारत में कम्पनी संसदीय अनुमोदनो पर कम आश्रित रहती है इसलिए स्वाभाविक है कि संसद इस तरह के संगठन के पक्ष में नहीं है जिससे इसके "संसदीय नियंत्रण" में कमी आए। अनुमान समिति की दृष्टि से संसदीय नियंत्रण एवं आन्तरिक स्वायत्तता के गुण संगठन के निगम स्परूप में पाए जाते है। निगम के दायित्व एवं संसदीय नियंत्रण की प्रकृति का सम्बन्धित मूल विधि में स्पष्ट उल्लेख होता है। अतः समिति का सुझाव था कि जिन उद्यमों पर शासन का पूर्ण स्वामित्व होता है उनका संगठन सविधिक निगमों के रूप में किया जाना चाहिए, और जहाँ सुरक्षा, सामरिक या रक्षात्मक आवश्यकताओं या आर्थिक नियंत्रण के उद्देश्यों जैसे विशेष कारण हों वहाँ विभागीय उपक्रम की पद्धति का अनुगमन करना चाहिए। कम्पनी के संगठन स्वरूप का प्रयोग तो अपवादस्वरूप केवल विशिष्ट प्रकार के कार्यों के लिए ही किया जाना चाहिए; जैसे- संकटकाल में जब शासन किसी उद्यम पर स्वामित्व स्थापित करना चाहता हो; निजी स्वामित्व के सहयोग से यदि शासन किसी उद्यम को प्रारम्भ करना चाहता है; या उद्यम को जब शासन अन्ततः निजी स्वामित्व के हाथों में हस्तान्तरित करना चाहता हो।

अतः संगठन के संवैधानिक निगम या सरकारी कम्पनी रूपों के बीच चुनाव का विवाद बहुत पुराना है।

प्रशासनिक सुधार आयोग (1967) के अपने प्रतिवेदन में कहा कि सार्वजनिक उद्यम के लिए कम्पनी रूप की तुलना में निगम रूप को अपनाना अधिक लाभप्रद है। विदित है कि निगमों का गठन संसद द्वारा किया जाता है, इसलिए संसद के समक्ष यह अवसर होता है कि वह सार्वजनिक क्षेत्र में उद्यम के गठन के विभिन्न पहलुओं पर जैसे-उसके संचालन, उद्देश्यों और दायित्वों पर विचार-विमर्श कर सकती है इसके साथ ही साथ संसद इस बात का भी ध्यान रखती है कि किस सीमा तक उसे स्वायत्ता दी जाए और किस सीमा तक उसका विकेन्द्रीकरण किया

जाए। इसलिए प्रशासनिक सुधार आयोग ने सामान्य स्तर पर सार्वजनिक निगम के रूप को अधिक पसंद किया है और इसके साथ ही क्षेत्र निगम के गठन का भी सुझाव प्रस्तुत किया। लेकिन किसी देश के आर्थिक विकास में संगठन का कम्पनी रूवरूप भी किन्हीं कारणों से अत्यधिक उपयुक्त हो सकता है। इसे सभी अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में अनुपयोगी घोषित करना उचित नहीं है।

इस प्रकार संगठन के प्रत्येक रूप के अपने लाभ एवं हानियाँ होती हैं। किसी सार्वजनिक उपक्रम के लिए संगठन का कौन सा रूप उपयुक्त या सही होगा, इस बात का निर्धारण करना एक जटिल कार्य है जिसमें अनेक बातों पर ध्यान देना पड़ता है, उस प्रतिष्ठान की गतिविधि किस प्रकार की है, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास में उसका क्या योगदान है, उसके कार्मिक, उसकी वित्तीय आवश्यकताएँ कैसी है जैसे गम्भीर विचार आदि।

11.3 संगठन के दूसरे स्वरूप

उपर्युक्त तीन मुख्य रूपों के अतिरिक्त भी सार्वजनिक उद्यमों के निम्न अन्य स्वरूप भी है-

1. **नियत्रंण परिषद/बोर्ड-** विभागीय संगठन के दोषों को दूर करने तथा उनके कार्य- संचालन में लोच लाने एवं शीघ्र निर्णय लेने हेतु नियंत्रण मण्डलों/परिषदों की स्थापना की जाती है। इसका गठन केन्द्र या राज्य सरकार के प्रस्ताव पर होता है। इनकी स्थापना बहुउद्देश्यी नदी घाटी परियोजनाओं के प्रबंध के प्रयोजन से की जाती है। भाखड़ा प्रबंधन परिषद और तुंगभद्रा परियोजना जैसी अन्य परियोजनाओं का गठन नियंत्रण परिषद के रूप के तहत हुआ है। नियंत्रण परिषद के पास तकनीकी और वित्तीय मामलों समेत परियोजना का सारा प्रभार होता है।
2. **पब्लिक ट्रस्ट (लोक न्यास)-** इसका गठन संसद के विशेष अधिनियमों के द्वारा होता है। इनके गठन का मुख्य उद्देश्य सेवा कार्य से जुडे उपक्रमों के प्रबन्धन के लिए अथवा सामन्यतौर पर समाज को प्रभावित करने वाली गतिविधियों के लिए की जाती है। उदाहरण के तौर पर इस श्रेणी में आने वाले उद्यम हैं- यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंण्डिया, पोर्ट ट्रस्ट इत्यादि।
3. **संचालन अनुबंध/ठेका-** रंगून में हुई एक सेमिनार में संचालन ठेकों को सार्वजनिक उद्यमों के लिए अपेक्षाकृत एक नई विधि कहा गया है। इस प्रारूप में सरकार निजी नियंत्रण और प्रबंधन का लाभ उठाने के विचार से प्रबंधन से संबंधित कामों को एक सहमत पारिश्रमिक पर किसी निजी पक्ष को दे देती है। ठेकेदार कम्पनी को कर्मचारियों की भर्ती, वेतन तय करने, आवश्यक पूर्तियाँ एवं माल खरीदने तथा कर्मचारियों को सेवामुक्त करने की स्वतंत्रता होती है। इस पर सरकारी अभिकरणों पर लागू होने वाली संविधियाँ लागू नहीं होती और इसलिए इसके कर्मचारियों को सरकारी कर्मचारी नहीं माना जाता। भारत में सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश की पहली सीमेण्ट फैक्ट्री को ब्रिटिश फर्म को सौंपकर इस प्रारूप को अपनाया गया था।
4. **आयोग-** लोक उद्यमों के अंर्तगत 'आयोगों' की स्थापना देश में विकास कार्यक्रमों को सम्पन्न करने हेतु की गई है। इनका गठन भी संसद के विशेष अधिनियमों द्वारा होता है।। उदाहरण के लिए टैरिफ आयोग, फारवर्ड मार्केट्स आयोग, खादी और ग्राम उद्योग आयोग।
5. **कमोडिटी बोर्ड-** इसकी स्थापना औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने के उद्देश्य से की जाती है। इनका गठन भी संसद के विशेष अधिनियमों द्वारा किया जाता है। इसके उदाहरण है- स्मॉल स्केल इंडस्ट्री बोर्ड, कॉफी बोर्ड, रबर बोर्ड।
6. **क्षेत्र निगम-** क्षेत्र निगम ऐसे निगम होते है जो किसी विशेष गतिविधियों में या संचालन के क्षेत्र में लगे होते हैं। यह सम्बंधित मंत्रालयों के अधीन कार्य करते है। भारत में प्रशासनिक सुधार आयोग ने सर्वप्रथम

लोहा और इस्पात, विद्युत उत्पाद, कोयला और भूरा कोयला, तेल, पेट्रोलियम पेट्रोरसायन, खाद आदि जैसे क्षेत्रों में क्षेत्र निगम की स्थापना की सिफारिश की थी।

7. **सहकारी समितियाँ-** इनकी स्थापना विकास और संवर्धनात्मक कार्यों के उद्देश्य से की जाती है। ये समितियाँ सोसाइटी पंजीकरण अधिनियम के तहत पंजीकृत होती हैं। किसी सार्वजनिक उद्यम को सहकारी समिति तभी माना जाता है जब सरकार के निवेश का अंश उसमें सबसे बड़ा हो। इस श्रेणी के उद्यमों में भारतीय डेयरी निगम, भारतीय व्यापार मेला प्राधिकरण और राष्ट्रीय अनुसंधान विकास निगम आदि आते हैं।

11.4 संयुक्त उद्यम

सार्वजनिक संयुक्त उद्यम विकासशील देशों के बीच आर्थिक और तकनीकी सहयोग का एक नया रूप है। 'संयुक्त उद्यम' शब्द को एक ऐसे उद्यम के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है जिसमें दो या दो से अधिक प्रतिभागी कुछ सामान्य लक्ष्यों के लिए एक साथ काम करने के लिए सहमत हों। इस नवीन धारणा के अंर्तगत सरकार आर्थिक गतिविधियों में निजी क्षेत्र के साथ संयुक्त भागीदारी करती है। 'दत्त समिति' के नाम से प्रसिद्ध औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति जांच आयोग (1969) में अपनी प्रतिवेदन में यह कहा कि संयुक्त क्षेत्र दो महत्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता है, पहला, निजी क्षेत्र के सहायता पाए उद्योगों के प्रबन्धन और नियंत्रण में एक सकारात्मक प्रभाव सुनिश्चित करना, और दूसरा औद्योगिक उपक्रमों को सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं के संसाधनों का इस्तेमाल कर अपने औद्योगिक साम्राज्य का विस्तार करने से रोकना।

संयुक्त उद्योगों की स्थापना के प्रमुख कारण निम्न रूप से बताए जा सकते हैं-

- जब सरकार किसी उद्यम की स्थापना करना चाहती है, लेकिन उसके पास महत्व की क्षमता और आवश्यक कौशल का अभाव होता है तो संयुक्त उद्यम का इस्तेमाल करके निजी क्षेत्र के प्रबंधन का उपयोग कर सकती है।
- संयुक्त उद्यम के जरिए सरकार ऐसी किसी उद्यम में इक्विटी के लिए रूचिशील हो सकती है जो बीमा या निजी क्षेत्र जिसका प्रबंध ठीक ढ़ग से नहीं कर रहा और वह सरकार के लिए चिंता का विषय बनी हुई है।
- संयुक्त क्षेत्र के माध्यम से सरकार की भागीदारी औद्योगिक वृद्धि की गति को तेज करेगी, क्योंकि इससे औद्योगिक क्षेत्र के किसी अछूते खण्ड को सक्रिय करने में सहायता मिलती है।
- सरकार लाभ की संभावित आय के लिए निजी उद्यमों में सांझा कर (शेयर) ले सकती है।

सधारणतः संयुक्त उद्यमों की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं-

- साझेदारी द्वारा, रूपए, सम्पत्ति, प्रयास, ज्ञान, कौशल या सामान्य उपक्रम की अन्य परिसमपत्ति का अंशदान।
- उद्यम के विषय वस्तु में संयुक्त सम्पत्ति हित।
- उद्यम का पारस्परिक नियंत्रण या प्रबंधन का अधिकार।
- सम्पत्ति में भागीदारी का अधिकार।

आज के बदलते परिवेश में वैसे तो संयुक्त उद्यमों की अवधारणा और अभ्यास की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि लोक या निजी क्षेत्रों की सही-सही भूमिकाओं को लेकर कोई स्पष्टता नहीं है। इसके अलावा, स्वायत्ता, मूल्य निर्धारण नीति, सरकार का प्रतिनिधित्व, प्रबंधक मण्डल में निजी क्षेत्र की जैसी

समस्याएँ संयुक्त क्षेत्र के उद्यमों के सामने आती है। यदि लोक एवं निजी क्षेत्रों के बीच आपसी भरोसा और विश्वास पैदा किया जा सके तो, संयुक्त उद्यम विकासशील देशों में विकास का एक शसक्त माध्यम बन सकता है। संयुक्त राष्ट्र सार्वजनिक संयुक्त उद्यम के प्रबन्धन पर विशेषज्ञ समूह की बैठक, न्यूयॉर्क, जनवरी 1986 में आयोजित की गई। इसके अनुसार विकासशील देशों में सार्वजनिक संयुक्त उद्यमों की वृद्धि का प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं-

- अर्थव्यवस्थाओं के पैमाने और क्षेत्र को प्रभावित करने के लिए;
- विकासशील देशों की स्थिति के लिए प्रौद्योगिकी के विकास को और अधिक उपयुक्त बनाने के लिए;
- जोखिम साझा करने और निवेश की आवंटित दक्षता में वृद्धि करने के लिए; और
- बाजार के विकास/वृद्धि के साथ उत्पादक क्षमता की तुलना समन्वयित करने के लिए।

11.5 सार्वजनिक उपक्रमों के लिए एक समग्र संगठन की आवश्यकता

राष्ट्र हित में लोक उद्यमों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। जहाँ इसकी शुरूआत संख्या 01 अप्रेल 1951 में पाँच थी वो बढ़कर लगभग (2015-16) के आँकड़ों के अनुसार 244 तक पहँच गई है। सार्वजनिक उद्यमों के विशाल क्षेत्र को देखते हुए यह सवाल उठता है कि क्या समसत सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के लिए एक समग्र संगठन या फिर किसी एक (अकेले) शीर्ष निकाय की कोई आवश्यकता है। यह एक व्यवहारिक प्रश्न है, जिसकी चर्चा समय-समय पर सरकार और इससे जुड़े विशेषज्ञों और विद्वानों द्वारा की जाती रही है। इस संदर्भ में ए0डी0 गोरेवाला ने 1951 में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट "राज्य उद्यमों का दक्ष व्यवहार" में यह सिफारिश की थी कि सभी सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के लिए एक ही प्रबंधक मण्डल होना चाहिए ताकि सभी उद्यमों को एक समग्र परिधि में लाया जा सके। इनके सिफारिश को ध्यान में रखते हुए, एक उत्पादन मंत्रालय का गठन किया गया और इसे समस्त औद्योगिक इकाईयों की गतिविधियों के समन्वय की जिम्मेदारी सौंपी गई। लेकिन इससे प्रभावित दूसरे मंत्रालयों ने इसका विरोध करना शुरू कर दिया जिसके कारण इस मंत्रालय को भंग कर दिया गया। इस उत्पादन मंत्रालय को बंद करवाने के पीछे बहुत सारे तर्क दिए गए मसलन प्रथम, इसका विशाल आकार जिससे इसके संचालन में कठिनाइयाँ उत्पन्न होगीं दूसरा, सार्वजनिक उद्यम का कार्य क्षेत्र है, क्योंकि आज सार्वजनिक उद्यम विभिन्न व्यापारिक या गैर-व्यापारिक क्षेत्रों में काम कर रहा है इसका दायरा दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है (सामरिक से लेकर सामाजिक कार्यों तक)। अतः इन उद्यमों के उद्देश्य अलग-अलग है और वे भिन्न-भिन्न प्रौद्योगिकी को अपनाते है जिससे उनके मध्य समन्वयम का अभाव रहता है।

फिर भी इसके समग्रता का प्रयास जारी है। 1986 में सार्वजनिक उद्यम विभाग का गठन किया गया। इसी संदर्भ में 1965 में 'सार्वजनिक उद्यम ब्यूरो' का गठन किया गया, जो एक केन्द्रीय कर्मचारी अभिकरण के रूप में कार्य करता है। जिसका काम सार्वजनिक उद्यमों के प्रबंधन, परामर्श और कार्य क्षमता को नियमित करने में सहायता प्रदाता के रूप में होता है। यह सार्वजनिक उद्यमों को विशेषज्ञ किस्म का परामर्श देने के साथ-साथ मार्गदर्शन भी करता है।

'सार्वजनिक उद्यम ब्यूरो' सार्वजनिक उद्यमों, सरकार और संसद के मध्य सेतु का काम करती है। इसके अलावा सार्वजनिक उद्यम की स्थायी समिति तथा अन्य समितियों द्वारा भी विभिन्न सार्वजनिक उद्यमों के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है।

अभ्यास के प्रश्न-

1. भारत में भारतीय कम्पनी अधिनियम कब अपनाया गया?
2. विभागीय संगठन के प्रकारों का उल्लेख करें।

3. सार्वजनिक/लोक निगम के लाभ एवं हानियों को बताएँ।
4. संचालन अनुबंध/ठेका का अर्थ बताएँ।

11.6 सारांश

सार्वजनिक उद्यमों के स्वास्थय/स्वरूप के प्रबंधन के लिए प्रारम्भ से ही सरकार एक ऐसी व्यवस्था की तलाश में लगी है जिससे विभिन्न सार्वजनिक उद्यमों की सार्वजनिक जवाबदेही और संचालन की स्वायत्ता के मध्य संतुलन एवं समन्वय कायम किया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा संगठन के तीन महत्वपूर्ण रूपों की स्थापना की गई। ये रूप हैं-विभागीय प्रबंध/उद्यम, सार्वजनिक निगम और सरकारी कम्पनी। प्रत्येक संगठन के अपने-अपने लाभ एवं हानियाँ होती है। जहाँ संगठन के विभागीय रूप को सामरिक महत्व की और प्रतिरक्षा सम्बंधी इकाइयों के लिए सबसे उपयुक्त माना गया है, वहीं सार्वजनिक निगम को वित्तीय संस्थाओं और लोक उपयोगिता की सेवाओं के लिए आवश्यक माना है। संगठन के तीसरे स्वरूप यानि सरकारी कम्पनी के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादन, संसाधन और व्यापार सम्बंधी गतिविधियाँ तथा निजी क्षेत्र से प्रतिस्पर्द्धा की संभावना रखने वाली गतिविधियों के लिए उपयुक्त माना गया है। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि संगठन के संचालन के स्तर पर उद्यमों की स्वायत्ता, कार्य करने के तरीके और कानूनी स्थिति के मध्य कोई स्पष्ट व आपसी संबंध नहीं है और न ही इनके बीच कोई समन्वय ही बन सका है।

सार्वजनिक उद्यमों के मध्य एकरूपता लाने के प्रयोग के रूप में भारत में कुछ गतिविधियों के संचालन हेतु नियंत्रक कम्पनियों का गठन किया गया है। स्पष्ट लाभों वाला संयुक्त क्षेत्र भी भारत में सफल नहीं रहा है लेकिन इसे सफल बनाने के प्रयास सरकार द्वारा लगातार किए जा रहे है।

11.7 शब्दावली

निगम- एक ऐसा निकाय या समूह जिसे एक व्यक्ति की तरह रहने के लिए कानून द्वारा अधिकृत किया जाता है। निरंतर चलते रहने वाले व्यापारिक संगठन, सेतु-पुल, सम्यक-समस्त या उपयुक्त, अंशधारी- किसी कम्पनी या कारोबार में लगी पूँजी के कुछ हिस्से या अंश का स्वामी, सामरिक- युद्ध या सेना और नौसेना से सम्बन्धित, परिश्रमिक-मेहनतानें, स्वामित्व- प्रभुत्व या मालिकपन, विधिक-विधि संबंधी, विदित-ज्ञात, सार्वजनिक जवाबदेही- कार्यकलापों का विवरण जनता या संसद के सामने रखना, पब्लिक ट्रस्ट- लोक न्यास, नियंत्रक कम्पनी-मुख्य कम्पनी, जो वित्त प्रबंध और समन्वय के उद्देश्य से दूसरी कम्पनियों के शेयरों को अपने पास रखती है। दूसरी कम्पनियाँ इस कम्पनी की नियंत्रित कम्पनियाँ होती हैं, विनियोग- विधायिका द्वारा बजट के माध्यम से लिए गए वित्त को अधिकृत करना।

11.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1956, **2.** विभागीय संगठन के प्रकारों को 24.2 में विस्तृत रूप से बताया गया है, कृपया ध्यान दें। **3.** सार्वजनिक/लोक निगम के लाभ एवं हानी को 24.2.1 में विस्तृत रूप से बताया गया है, कृपया ध्यान दें। **4.** संचालन ठेका के अर्थ को 24.3 के अन्तर्गत बतया गया है, कृपया ध्यान दें।

11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विकास प्रशासन, आनन्द प्रकाश अवस्थी।
2. लोक प्रशासन, वीरेन्द्र शुक्ल।
3. राज्य प्रशासन, सुरेन्द्र कटारिया।

4. लोक प्रशासन: नये क्षितिज, इन्द्रजीत कौर।
5. भारतीय प्रशासन, श्री राम माहेश्वरी।
6. लोक प्रशासन, पुखराज जैन।
7. विकास प्रशासन (ई0पी0ए0-3, इकाई-27, इग्नू)

11.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. विकास प्रशासन (ई0पी0ए0-3, इकाई-27, इग्नू)
2. Public Sector in India, S.K.Singh.
3. Administration of Public Enterprises in India, Jagdish Prakash & Nageshwar Rao,Mata Badal Shukla.
4. www.dpe.gov.l n

11.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सरकारी कम्पनी से आप क्या समझते है? इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. सार्वजनिक/लोक निगमों की प्रमुख विशेषताओं स्पष्ट विवेचना कीजिए।
3. संगठन के दूसरे स्वरूपों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

ईकाई- 12 विकास निगमों की भूमिका

इकाई की संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 विकास निगमों की संकल्पना
    12.2.1 विकास निगमों के कार्य
    12.2.2 विकास बैंक
    12.2.3 विकास निगमों की भूमिका और उसका आलोचनात्मक मूल्यांकन
12.3 सारांश
12.4 शब्दावली
12.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
12.7 सहाकय/उपयोगी उधययन सामग्री
12.8 निबन्धात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत की औद्योगिक नीति में सामाजिक-आर्थिक उत्थान के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए रोजगार सृजन, कृषि क्षेत्र की मजबूती, उच्च उत्पादकता, क्षेत्रीय असंतुलन की सामाप्ति, उपभोक्ता संरक्षण तथा निर्यातोन्मुखी उद्योगों के प्रोत्साहन पर पूरा ध्यान केन्द्रीत किया गया। शुरूवाती वर्षों में सरकार के समक्ष बड़े और मद्यम स्तर के क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना एवं उनके गठन को लेकर काफी समस्याएँ आई। सरकार के समक्ष इन उद्योगों के विकास के लिए न सिर्फ वित्त की व्यवस्था करने की समस्या थी बल्कि समस्त उद्योगों के लिए तकनीकी की व्यवस्था भी करनी आवश्यक थी। इन समस्याओं के समाधान हेतु सरकार ने भारतीय अर्थव्यवस्था की वित्तीय और अन्य उन्नयन सम्बंधी गतिविधियों को शुरू करने, प्रोत्साहित करने तथा चलाने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट स्तर की संस्थाओं के गठन की आवश्यकता पर बल दिया। इन संस्थाओं को ष्विकास निगमष् के नाम से जाना जाता है। यह विकास के अभिकरण के रूप में, ऋण देने सम्बंधी, विकास सम्बंधी गतिविधियों के साथ-साथ परियोजनाओं के उन्नयन तथा अद्यमियों को उचित परामर्श एवं उनका मार्गदर्शन भी करती है।

इस इकाई में, हम विकास निगमों की संकल्पना, उनके द्वारा सम्पादित कार्यों तथा विकास बैकों की भूमिका पर चर्चा करने के साथ-साथ विकास निगमों का आलोचनात्मक मूल्यांकन भी करेंगे।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विकास निगम और विकास बैंकों की संकल्पना को समझ सकेगें।
- इनके कार्यों का विवरण दे सकेंगे।
- विकास और उन्नयन सम्बंधी गतिविधियों में विकास निगमों की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्याकन कर सकेंगे।
- विकास निगमों की प्रशासनिक समस्याओं का अध्ययन कर सकेंगे।

12.2 विकास निगमों की अवधारणा/संकल्पना

विकास निगम की स्पष्ट परिभाषा करना कठिन है। इसका संगठन प्रायः लोक निगम के समान होता है। विकास निगम निश्चित आर्थिक गतिविधियों को प्रोत्साहन देने के लिए स्थापित किए जाते हैं। लोक उद्यम में स्थापित यह एक स्वायत्त इकाई है जो आर्थिक गतिविधियों को करने के बजाय कुछ व्यवस्था द्वारा सहायता देकर प्रोत्साहित करता है। कलकत्ता में स्थापित औद्योगिक पुनर्निमाण निगम, पंजाब राज्य औद्योगिक विकास निगम आदि इसके उदाहरण है। इस प्रकार के निगम की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि यह अपने लाभ या मुनाफे के बदले में कुछ बाहरी आमदनी और मुनाफे का लक्ष्य बनाता है। जहाँ तक उन्नय संबंधी गतिविधियों का सम्बंध है, विकास-निगम की स्थापना के पक्ष में कुछ तर्क प्रस्तुत किए गए है- (1) विकास- निगम आर्थिक गतिविधियों को प्रोत्साहित करता है जो निजी क्षेत्र में अन्यथा सम्भव नहीं हैं, (2) विकास निगम कम लाभ या कुछ नुकसान की स्थिति में कार्यरत रहते है, और (3) सरकार की विचार की हुई किसी वांछित आर्थिक विकास नीति को बढ़ावा देते हैं। अन्तिम, निगम भारी लागत को सहन करता है जो व्यक्तिगत उद्यम या निजी क्षेत्र नहीं कर सकते। सरकार जब विकास निगम के माध्यम से पहल करती है तो, उससे आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा मिलता है। कभी-कभी ये निगम निजी क्षेत्र में आवश्यक आत्मविश्वास भरने के लिए उस क्षेत्र के साथ मिलकर संयुक्त रूप से किसी गतिविधि को बढ़ावा भी दे सकते हैं।

अतः स्पष्ट है कि लोक निगमों की भाँति विकास निगमों के पास पर्याप्त स्वायत्ता होती है। परिणामस्वरूप वे लाभ पाने वालों की वित्तीय, प्रबंधकीय एवं तकनीकी सहायता देने में समर्थ होते हैं। विकास निगम प्रत्यके मामलों में उपयुक्त निर्णय ले पाते हैं जैसे- क्या ऋणों या इक्विटी (सामान्य शेयर) के रूप में भागीदारी की जाए, या स्वयं ही गतिविधियाँ चलाई जाए या कुछ आर्थिक सहायता दी जाए या ये भी निर्णय कर सकती है कि पूरी उद्यम को निजी क्षेत्र को बेच दिया जाए।

12.2.1 विकास निगमों के कार्य

लोक निगम की भाँति विकास निगम अनेक प्रकार के कार्यों को करता है जैसे-

1. **वित्तीय संबंधी कार्य-** विकास निगम कृषि, उद्योग, व्यापार आदि को ऋण देने का कार्य करते हैं। भारत में औद्योगिक क्षेत्र में वित्त प्रदान करने वाली प्रमुख संस्थाएँ निम्नलिखित हैं-
    - भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI)
    - भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI)
    - भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (ICICI)
    - भारतीय औद्योगिक विनियोग बैंक (IIBI)
    - राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (NIDC)
    - भारतीय लघु-उद्योग विकास बैंक (SIDBI)

    इसके अतिरिक्त विशिष्ट वित्तीय संस्थान जैसे- भारतीय निर्यात आयात बैंक (EXIM Bank) इन वित्तीय कार्यों को अंजाम देते है। इसी प्रकार, विभिन्न राज्य सरकारों ने भी अपने-अपने राज्यों में छोटे एवं मध्यम स्तर के उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने हेतु सन् 1952 से विभिन्न वित्त और विकास निगमों का गठन किया है, जैसे- राज्य वित्त निगम (SFCs) तथा राज्य औद्योगिक विकास निगम (SIDCs) आदि।

2. **उन्नयन संबंधी कार्य-** उन्नयन संबंधी कार्यों के कई रूप होते है। विकास निगम किसी परियोजनाओं की स्थापना के पहले पूर्व- निवेश की सम्भावना का अध्ययन करता है। यह उद्यमियों एवं पूँजी निवेशकों को किसी परियोजना के मूल्यांकन और बाजार के विश्लेषण के लिए कुशल मार्गदर्शन एवं उनकी मदद करता है। औद्योगिक इकाइयों के लिए यह बिजली एवं पानी जैसी लागतों को रियायती दरों पर उपलब्ध कराता है तथा विपणन, भंडारण, संचार की सुविधाएँ भी इन औद्योगिक संपदाओं में उपलब्ध करायी जाती है। भारतीय राज्य व्यापार निगम इस प्रकार की उन्नयन संबंधी गतिविविधियों का एक अच्छा उदाहरण है। इसका उद्देश्य व्यापार को विविधता देने के साथ-साथ विदेशी मुद्रा का अधिक से अधिक अर्जन करना भी है। किसी पिछड़े क्षेत्र के विकास के लिए पूर्ण या आंतरिक रूप से कुछ विकास निगमों की स्थापना की गई है जैसे- (IDBI) और दूसरी वित्तीय संस्थाओं ने NEITCO, KITCO आदि जैसे परामर्श संगठन शुरू कर दिए है।

   इन परामर्श संगठनों का कार्य उन उद्यमियों को परामर्श एवं तकनीकी सहायता मुहैया करना होता है जो पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना करना चाहते हैं। उद्योगो का व्यापक विस्तार, संतुलित क्षेत्रीय विकास तथा पिछड़े क्षेत्रों तक आर्थिक प्रगति के लाभों का विस्तार आदि विकास निगम के प्रधान उद्देश्य रहे है।

3. **तकनीकी संबंधी कार्य-** कुछ विकास निगम तकनीकी कार्य जैसे- शोध तथा नवीन तकनीक विकसित करने का कार्य भी करते है जैसे- भारतीय राष्ट्रीय अनुसंधान विकास निगम आदि। भारत में राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम एक ऐसा ही विकास निगम है जो निरंतर परियोजना के निर्माण, उसकी विस्तृत प्रतिवेदन तैयार करने, सहायता करने तथा स्थल का निरीक्षण करने में परामर्शदात्री संस्था की भूमिका का निर्वाह करता है। उदाहरण के लिए- इंजीनियरिंग इंडिया लि0 आदि। इसके साथ ही यह उनके तकनीकी कर्मचारियों और प्रबंधकों को प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी प्रदान करता है। औद्योगिक उद्यमों के उत्पादनों के विपणन में भी यह मदद करता हैं।

4. **प्रवर्ती संबंधी कार्य-** विकास निगम किसी उद्यम की गतिविधियों को अपने नियंत्रण में रखते हुए, या उसे निजी क्षेत्र में स्थानांतरित करने से पूर्व, उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है या चला सकता है। इस प्रकार संयुक्त क्षेत्र की अनेक इकाइयों का राज्य सरकारों ने उन्नयन किया है। विविध गतिविधियों के संचालन हेतु सहकारी उद्यमों की स्थापना पर बल दिया जा रहा है। अन्य देशों की तरह भारत में भी सार्वजनिक क्षेत्र के कई इकाईयों को निजी क्षेत्र में परिवर्तित करने की प्रवृति अपनाई जा रही है। इसे विकासशील देशों में औद्योगिकरण का बेहतर विकल्प माना जा रहा है।

अतः स्पष्ट है कि, विकास निगमों की स्थापना किसी एक विशिष्ट उद्देश्य को ध्यान में रख कर नहीं की जाति बल्कि इसके विविध कार्य होते है।

12.2.2 विकास बैंक

विकास बैंक (Development Bank) एक ऐसा वित्तीय संस्थान है जो सर्वाधिक वित्त प्रदान करता है, उद्यम-वृत्ति को प्रोत्साहित करता है, संगठनात्मक प्रभावशीलता बढ़ाता है तथा तकनीकी एवं व्यवहारिक ज्ञान की उन्नति करता है। यह बैंक चाहे कर्ज देता है या पूँजी देता है या दोनों प्रदान करने के साथ-साथ सलाहकारी, प्रोत्साहन का काम तथा अद्यमीय सेवाएँ उपलब्ध कराता है। इस तरह विकास बैंक वित्तीय तथा विकास संबंधी सेवाओं के मिश्रण की व्यवस्था करता है। इन बैंकों की स्थापना सबसे पहले यूरोप और जापान में हुई।

भारत के विकास बैंक भारत में औद्योगिक वित्तपोषण संस्था (Industrial Financing Institution) स्थापित करने के लिए सन् 1931 में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति द्वारा सिफारिश की गई थी, लेकिन उस समय कोई ठोस कदम नहीं उठाए गए। रिजर्व बैंक ने एक विस्तृत अद्ययन कर विशेष संस्थानों की जरूरत का पता लगाया और

भारत में प्रथम विकास बैंक यानि 'भारतीय औद्योगिक वित्त निगम' 1948 का गठन किया गया। यह ऋण देने वाली पहली अखिल भारतीय संस्था हैं, जिसे उद्योगों का मध्यम और लम्बी अवधि के लिए ऋण देना का काम सौंपा गया है। सन् 1951 में संसद में राज्य वित्तीय निगम अधिनियम पारित किया गया और इस अधिनियम के तहत राज्य सरकार अपने संबंधित क्षेत्रों के लिए वित्तीय निगम स्थापित कर सकती थी।

इसके पश्चात सन् 1955 में 'भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम' को संयुक्त स्टॉक कम्पनी के रूप में स्थापित किया गया।

हालॉकि 'भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम' एक निजी क्षेत्र के रूप में स्थापित किया गया था लेकिन शेयर होल्डिंग और फंड जुटाने के तरीकों के अपने पैटर्न की वजह से यह सार्वजनिक क्षेत्र के वित्तीय संस्थान की विशेषता रखता है।

सन् 1958 में पुर्नवित्त निगम उद्योग लिमिटेड (RCI) की स्थापना भारतीय रिजर्व बैंक, एल0आई0सी0 तथा वाणिज्यिक बैकों द्वारा हुई। सन् 1964 में, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) का गठन किया गया। विकास बैकिंग (औद्योगिक वित्त) के क्षेत्र में इसकी स्थापना एक शीर्ष संस्था के रूप में की गई। यह राष्ट्रीय योजनाओं और प्राथमिकताओं के अनुसार मध्यम और दीर्घकालिन परियोजनाओं के वित्तपोषण द्वारा औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने, उनके समन्वय करने तथा उनके संसाधनों की पूर्ति करने का काम करता है। इस प्रकार यह विकास को बढ़ावा देने के साथ-साथ उद्यमों को विस्तार और विविधता देने और उसे आधुनिक बनाने के मिशन के साथ यह एक अग्रणी विकास बैंक रहा है।

विकास बैंक के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

- यह बैंक जोखिम पूँजी का प्रबंध करती है।
- यह बैंक मुख्यतः मध्यम तथा दीर्घकालिक कर्ज/ऋण तथा अग्रिम प्रदान करती है।
- यह बैंक उद्योगों के लिए स्टॉक, शेयर, बॉण्ड तथा डिबेन्चर आदि का निर्गम अभिदत (Subscribe) करता है जिससे उद्योगों को काफी लाभ पहुँचता है।
- यह बैंक नई औद्योगिक बैंकों की स्थापना में काफी सहायता प्रदान करता है।
- यह उद्यमों के प्रबंधन के लिए उद्यमियों का पता लगाता है।
- यह उद्यमों के लिए विशेष प्रस्तावों का निर्माण करता है।
- अपने प्रयासों या नियुक्त सलाहकारों के माध्यम से परियोजना की उपादेयता का पूरा अध्ययन करता है।
- यह बैंक नए उद्यमियों के आवश्यक प्रशिक्षण, दिशा निर्देश एवं अन्य सुविधाएँ जैसे- परियोजना का चुनाव तथा निरूपण, परियोजना कार्यान्वयन आदि का प्रबंध करता है।
- यह बैंक पिछड़े क्षेत्रों के विकास तथा उद्योगों के वितरण में सहायता प्रदान करती है।
- यह बैंक वर्तमान संयंत्र तथा मशीनरी के आधुनिकीकरण, मरम्मत तथा रूपान्तरण आदि के लिए सहायता भी देती है।

अतः स्पष्ट है कि उद्योग, कृषि और अन्य प्रमुख क्षेत्रों के संर्वधन और विकास में लगे ये वित्तीय अभिकरण हैं। ये विकास बैंक राष्ट्रीय या क्षेत्रीय वित्तीय उत्पादक निवेश के लिए मध्यम और दीर्घकालिन पूँजी प्रदान करने के लिए बनाये गये है। कुछ विकास बैंक सरकारी स्वामित्व वाले है तो कुछ निजी स्वामित्व वाले। फिर भी इनका उद्देश्य विकास सेवाएँ प्रदान करने के साथ-साथ अर्थव्यवस्था के त्वरित विकास में सहायता प्रदान करना है।

12.2.3 विकास निगमों की भूमिका और उसका आलोचनात्मक मूल्यांकन

किसी भी देश में उपस्थित कृषि क्षेत्र में तथा औद्योगिक क्षेत्र में आर्थिक मदद की आवश्यकता पड़ती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ती के लिए देश में बहुत से वित्तीय संस्थान होते हैं जो इनकी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। भारत में केन्द्र एवं राज्य दोनों स्तरों पर बहुत सारे विकास बैंक हैं। इन विकास बैंकों के अतिरिक्त इनमें से कुछ राष्ट्रीय अनुसंधान विकास निगम, केन्द्रीय भण्डारण निगम, राष्ट्रीय लघु स्तरीय उद्योग निगम, पुर्नवास उद्योग निगम, भारतीय पर्यटन विकास निगम, राष्ट्रीय बीज निगम, राज्य व्यापार निगम, फिल्म वित्त निगम, भारतीय जीवन बीमा निगम, भारतीय इकाई न्यास, साधारण बीमा निगम, राज्य वित्त निगम, राज्य औद्योगिक विकास निगम आदि हैं। इन सब के अतिरिक्त भारत के कुछ विशिष्ट वित्तीय संस्थान भी है जैसे- भारतीय निर्यात आयात बैंक, जोखिम पूँजी एवं प्राद्योगिक वित्त निगम लि0, भारतीय पर्यटन वित्त निगम, आधार संरचना पट्टेदारी तथा वित्त सेवा लिमिटेड। उपरोक्त निगमों में से कुछ निगम जैसे- पर्यटन, निर्यात, अनुसंधान और विकास के क्षेत्रों में कार्यरत निगम बहुत प्रभावी ढंग से विकास में सहायक सिद्ध हो रहे है। राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में उद्योगों के विकास को संतुलित और एकीकृत करने की दिशा में एक सरकारी माध्यम के रूप में प्रभावी ढंग से काम करता आ रहा है। यह निगम उद्योगों की स्थापना के लिए नए योजना एवं उत्पादन की नई दिशाओं को विकसित करने के लिए परियोजनाओं को तैयार करता आ रहा है। निगम का मुख्य उद्देश्य उद्योगों को वित्त देने के बजाय उनको प्रोत्साहन देना है। यह अपनी खुद की औद्योगिक योजनाओं को बनाता है या फिर निजी उद्योग के साथ सहयोग कर के यह उद्योगों के आधुनिकीकरण के लिए सहायता भी प्रदान कर सकता है। इसकी शुरूआत कपास, जूट और शक्कर उद्योगों को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए की गई थी। एन0आई0डी0सी0 की सेवाओं का लाभ भारतीय और विदेशी उद्यमियों के साथ- साथ संयुक्त राष्ट्र ने भी लिया है।

विकास निगम सामाजिक बदलाव लाने में भी प्रभावी रहे हैं। ऐसा विशेषकर आदिवासी क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के मामलों में देखा गया है। इस क्षेत्र में राष्ट्रीय अनुसुचित जाति एवं विकास निगम एवं राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति एवं विकास निगम जैसे निगम प्रमुख है।

विकास निगमों ने भण्डारण की जो सुविधाएँ उपलब्ध कराई हैं उनसे हमारे लघु स्तर के विनिर्माताओं और कृषि उत्पादकों को पर्याप्त संरक्षण मिला है। पर्यटन विकास निगमों के द्वारा विदेशी मुद्रा का भी अर्जन देश के अर्थव्यवस्था को मजबूत बना रहा है।

निःसंदेह राष्ट्र के विकास को सही दिशा प्रदान करने में विकास निगमों द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जा रही है। देश की आर्थिक-सामाजिक उन्नति के साथ-साथ ये निगम क्षेत्रीय असंतुलन को समाप्त कर समग्र विकास एवं एकीकरण की ओर अग्रसर हो रहे हैं। लेकिन इनमें से अधिकतर निगमों के साथ एक गम्भीर समस्या उनकी स्वायत्तता को लेकर जुड़ी है। विकास निगम वैसे तो लोक निगमों की भाँति अनेक प्रकार के कार्यों को करता है और लोक- उद्यम में स्थापित यह एक स्वायत्तता इकाई है, फिर भी ये निगम किसी बड़े रूप में सरकारी प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाए हैं। इसलिए जब तक इन निगमों को पर्याप्त स्वायत्तता नहीं दी जाती, वे एक वाणिज्यिक उद्यम के रूप में कार्य नहीं कर सकेगें। इसलिए सरकार और निगमों के बीच एक समझौता के तहत काम होना चाहिए ताकि निगमों की स्वायत्तता बनी रहे जिससे उनके द्वारा किए जाने वाले कार्यों में बाधा ना आए और विकास अवरूद्ध न हो।

अतः विकास निगमों द्वारा किए जाने वाले कार्यों के अच्छे परिणाम प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि उनकी स्वायत्तता सुनिश्चित हो तथा उन पर कोई अनावश्यक दबाव न बने। इसके साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि विकास निगमों कि संगठन में निदेशक मण्डल और उनसे निम्न स्तर के अधिकारियों को उचित प्रशासनिक और आर्थिक अधिकार दिए जायें तथा इन निगमों में व्यावसायिकता को बढ़वा देने के लिए इनमें कार्यरत प्रबंधकीय और तकनीकी कार्मिकों को प्रशिक्षण दिया जाए। विकास निगमों की कुशलता और क्षमता को प्रभावी

बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वित्तीय प्रबंधन के लिए आधुनिक तकनीकों जैसे (वैज्ञानिक विश्लेषण की आधुनिक विधियों का प्रयोग), आँकड़ा संसाधन और कार्यालय- प्रबंधन की बेहतर तकनीकों को अपनाने पर बल दिया जाना चाहिए। इससे नियोजन, निर्णयन और मूल्यांकन करने की बेहतर व्यवस्था की जा सकती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. विकास बैंकों की स्थापना सबसे पहले किन-किन देशों में हुई।
2. विकास निगमों के वित्तीय कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. भारत में ऋण प्रदान करने वाली पहली अखिल भारतीय संस्था का नाम बताईए तथा इसकी स्थापना कब हुई।
4. भारतीय औद्योगिक विकास बैंक का गठन कब हुआ।

12.3 सारांश

भारत सहित विश्व के अधिकांश विकासशील देशों में अनेक विकास निगम है जिनका उद्देश्य उन देशों का सामाजिक-आर्थिक विकास करने के साथ-साथ वित्तीय और तकनीकी मामलों में निजी उद्यमियों की सहायता करने के लिए किया जाता है। विकास बैंक उद्योगों को वित्तीय एवं विकास सम्बंधी सहायता प्रदान करता है। इस इकाई के अंर्तगत हमने भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगम एवं राज्य औद्योगिक विकास निगम जैसे अनेक विकास बैंकों के कार्यों के विषय में जाना और समझा कि विकास निगमों ने अनेक क्षेत्रों में सराहनीय कार्य किया है और कर रहे है जैसे- विपणन, भंडारण, निर्यात, अनुसंधान और विकास, पर्यटन आदि। इसका सकारात्मक प्रभाव अर्थव्यवस्था पर पड़ रहा है लेकिन विकास निगमों का आलोचनात्मक विश्लेषण करने पर यह बात सामने आती है कि इन निगमों के पास पर्याप्त स्वायत्तता नहीं होती और न ही संगठन में निदेशक मण्डल और उनसे निम्न स्तर के अधिकारियों को उचित प्रशासनिक और आर्थिक अधिकार दिए जाते हैं। वे अपने तकनीकी और प्रबंधकीय कार्मिकों में व्यावसायिकता नहीं बना पाते।

अतः विकास निगमों को प्रभावी एवं सुदृढ़ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनकी प्रशासनिक ढ़ाँचे को बेहतर बनाया जाए तथा आधुनिक तकनीकीकरण को अधिक से अधिक ग्रहण किया जाए जिससे राष्ट्र निर्माण की गति को और तीव्रता मिल सके।

12.4 शब्दावली

फंड-निधि, इलैक्ट्रानिक आंकड़ा संसाधन- किसी संगठन के प्रबंधन के लिए सूचनाओं के भण्डारण और संसाधन के लिए कम्प्यूटरों का उपयोग, उपादेयता- व्यावहारिकता, संयुक्त क्षेत्र- जिसमें सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र मिल कर काम करते है।

प्रवर्ती कार्य- किसी संगठन को सीधे चलाने से सम्बंधित कार्य एवं गतिविधियाँ, शेयर होल्डिंग- शेयरधारण या अंशधारी।

12.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. यूरोप और जापान, **2.** विकास निगम के वित्तीय कार्यों को 25.2.1 में विस्तृत रूप से बताया गया है, कृपया ध्यान दें। **3.** भारत में भारतीय औद्योगिक वित्त निगम ऋण देने वाली पहली अखिल भारतीय संस्था है तथा इसका गठन 1948 में हुआ था। **4.** सन् 1964

12.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विकास प्रशासन, आनन्द प्रकाश अवस्थी।
2. व्यावसायिक वित्त, मनमोहन प्रसाद एवं कामिनी सिन्हा।
3. विकास प्रशासन, (ई0पी0ए0-3, इकाई- 28, इग्नू)
4. भारतीय प्रशासन, श्री राम माहेश्वरी।

12.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. विकास प्रशासन, (ई0पी0ए0-3, इकाई- 28, इग्नू)
2. व्यावसायिक वित्त, मनमोहन प्रसाद एवं कामिनी सिन्हा।

12.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. विकास बैंक के प्रमुख कार्यों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कीजिए।
2. विकास निगम से आप क्या समझते हैं? इसका आलोचनात्मक मूल्यांक कीजिए।
3. विकास निगमों की स्थापना किन कारणों से हुई?

इकाई- 13 सार्वजनिक क्षेत्र की प्रशासनिक समस्याएँ

इकाई की संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याएँ
13.2.1 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याओं का विस्तृत विवरण
13.2.2 सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की समस्याओं को दूर करने के सुधारात्मक उपाय
13.3 सारांश
13.4 शब्दावली
13.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
13.8 निबन्धात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

पिछली इकाईयों में हमने सार्वजनिक क्षेत्र के विकास और विस्तार तथा विकास निगमों पर विस्तृत चर्चा की है। लेकिन जब हम इनकी कार्यशैली की ओर अपना ध्यान केन्द्रीत करते हैं तो इसमें कुछ स्पष्ट प्रशासनिक खामियाँ भी नजर आती है। इस इकाई में हम इन प्रशासनिक समस्याओं का विस्तृत परीक्षण करने का प्रयास करेगें।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के कार्य निष्पादन से संबंधित प्रमुख समस्याओं की पहचान कर सकेंगे।
- सार्वजनिक क्षेत्र के समक्ष संगठनात्मक समस्याओं की व्याख्या कर सकेंगें।
- सार्वजनिक क्षेत्र के संचालन से संबंधित विभिन्न समस्याओं का विश्लेषण कर सकेंगे।
- भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रशासनकि ढाँचे में वांछित संस्थागत एवं प्रक्रियात्मक परिवर्तन इंगित कर सकेंगे।

13.2 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याएँ

जैसा कि पहले इकाई 23 में हम समझ चुके है कि सार्वजनिक क्षेत्र या उद्यम की धारणा का कल्याणकारी राज्य एवं समाजवादी और विकासात्मक प्रशासन की धारणा से घनिष्ठ संबंध है। राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के प्रत्यक्ष फलस्वरूप 1948 तथा 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्तावों तथा समाजवादी समाज की स्थापना की सरकारी घोषण से सार्वजनिक क्षेत्र ने भारत में उचित स्थान प्राप्त किया है। देश की अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का विशिष्ट स्थान के साथ-साथ राष्ट्रीय विकास में इनकी भूमिका अत्यन्त सराहनिय रही है। देश के औद्योगिकरण को बढ़ाने, क्षेत्रीय आर्थिक असंतुलन को दूर करने, सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी निवेश को प्रोत्साहन देने, रोजगार के अवसर बढ़ाने, अर्थव्यवस्था में कुछ औद्योगिक घरानों के बढ़ते एकाधिकार पर नियन्त्रण रखने तथा जन मानस के जीवन- स्तर को ऊचाँ उठाने तथा सुधार लाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र से महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की अपेक्षा की गई है। लेकिन जब हम सार्वजनिक क्षेत्रों का समग्र अध्ययन करते है तो यह पता चलता है

कि जहाँ इन क्षेत्रों ने राष्ट्रीय विकास में अपनी महती भूमिका का परिचय दिया है वहीं जब हम इसके दूसरे पहलू की ओर अपना ध्यान केन्द्रीत करते है तो पता चलता है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम अनेक मूलभूत, प्रशासनिक एवं प्रबंधकीय समस्याओं से ग्रसित है। इसके पीछे यह तर्क दिया जाता है कि हमारी परियोजनाएँ उचित प्रकार से आयोजित नहीं की गई, इनकी स्थापना उपयुक्त स्थान पर नहीं की गई, राजनीतिक हस्तक्षेप तथा परियोजनाओं को बनाने तथा समादेशित करने में देरी हुई। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक उद्योगों के संचालन में अब संरचनात्मक समस्याएँ अधिक महत्वपूर्ण हो गई है।

इन गंभीर समस्याओं के निराकरण के बिना उसके कुशल कार्य-निष्पादन की कल्पना नहीं की जा सकती है। इन समस्याओं को हम दो श्रेणियों में रख सकते हैं- पहला, समस्त उद्यमों या प्रतिष्ठनों की सामान्य समस्याएँ, और दूसरा, किसी उद्यम की विशिष्ट समस्याएँ।

पाठकों की सुविधा के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की समस्याओं को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है- 1. उद्देश्यों से सम्बन्धित समस्याएँ, 2. परियोजना संबंधी समस्याएँ, 3. संगठनात्मक समस्याएँ, 4. उत्पादन संबंधी समस्याएँ, 5. वित्तीय समस्याएँ, 6. कार्मिक प्रशासन संबंधी समस्याएँ, 7. विपणन संबंधी समस्याएँ, 8. नियन्त्रण एवं उत्तरदायित्व की समस्या, 9. सामग्री प्रबंध की समस्या और 10. बीमार इकाइयों की समस्या।

इस संबंध में सार्वजनिक उद्यमों के सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हुआ है कि कई सार्वजनिक उद्यम अपेक्षानुसार कार्य नहीं कर रहे हैं।

13.2.1 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याओं का विस्तृत विवरण

उपर्युक्त वर्णित समस्याएँ न केवल चिंता का विषय हैं, बल्कि यह वास्तव में विभिन्न स्तरों पर सार्वजनिक चर्चा का मुद्दा बना हुआ है। इन समस्याओं का विस्तृत अध्ययन हम करेंगे-

1. **उद्देश्यों से सम्बन्धित समस्याएँ-** किसी भी सार्वजनिक उपक्रमों या प्रतिष्ठानों के सफलतापूर्वक संचालन हेतु उद्देश्यों का स्पष्ट होना अति आवश्यक है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में अस्पष्ट या दुविधापूर्ण उद्देश्यों से निम्नलिखित समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जैसे-
    - उद्देश्यों में स्पष्टता का अभाव- यह देखा गया है कि निजी उद्यमों के उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट होते है वहीं सार्वजनिक उद्यमों के मामलों मे यह स्पष्ट नहीं होते। इतने वर्षों के बाद भी हम अब तक इस मुद्दे से जूझ रहे हैं। अभी तक इन उद्यमों के उद्देश्यों के लिए कोई स्पष्ट नीति नहीं बन पाई है। स्पष्ट उद्देश्य न होने के कारण लोक उद्यमों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि वो अपनी दक्षता का ठीक और सही ढंग से न्यायोचित आकलन नहीं कर पाते।
    - बहु-आयामी और परस्पर विरोधी उद्देश्य- भारत में लोक उद्यमों की स्थापना बहु-आयामी उद्देश्यों के साथ हुई जिसकी प्रकृति परस्पर विरोधी रही है। निजी उद्यमों के विपरीत लोक उद्यमों के उद्देश्य आर्थिक के साथ-साथ गैर-आर्थिक रहे हैं। इनके उद्देश्यों का निर्धारण लोक कल्याण को भी ध्यान में रख कर बनाया जाता है।
2. **परियोजना संबंधी समस्याएँ-** सार्वजनिक क्षेत्र में परियोजनाओं का प्रभावी प्रबंधन सर्वोपरि महत्व का है। वर्तमान में सार्वजनिक क्षेत्र के दायरे में विस्तृत क्षेत्रीय कार्य आ गए हैं और सामान्य राजकोष से निवेश की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हुई है। अतः इनकी परियोजनाओं के प्रभावी प्रबंध का बहुत महत्व है। इससे संबंधित कुछ महत्वपूर्ण समस्याएँ निम्नलिखित हैं-
    - स्थान के चुनाव में राजनीतिक हस्तक्षेप- सार्वजनिक उद्यमों की स्थापना के लिए स्थान का चयन आर्थिक और तकनीकी कारकों के आधार पर न करके राजनीतिक दबाव और प्रभाव के आधार

पर किया जाता है। जिसमें उत्पादन की लागत दर बहुत अधिक बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ केन्द्र सरकार ने एक तर्कहीन दृष्टिकोण के तहत 'मिग विमान' परियोजना को दो अलग-अलग राज्यों में स्थापित करने का फैसला लिया। ये स्थान 'नासिक और 'कोरापूट' है जिनकी दूरी 2,000 कि0मी0 से अधिक है यह निर्णय दोनों राज्यों के दो शक्तिशाली राजनेताओं को संतुष्ट करने के लिए लिया गया। राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण कई बार निर्माण के समय भी परियोजनाओं का स्थान बदल जाता है।

- परियोजनाओं की व्यवहार्यता रिपोर्ट की दोषपूर्ण तैयारी- अनेक बार जब रिपोर्ट बनाई जाती है तो इन्हें उपयुक्त अधिकारी से स्पष्ट होने में लम्बा समय लगता है जिसका परिणाम होता है पर्याप्त विलम्ब। इसके साथ ही साथ कई बार परियोजनाओं की रिपोर्ट पूरे तकनीकी पहलुओं को ध्यान में रखकर नहीं बनाई जाती और न ही आर्थिक लागतों व लाभों पर पूरा ध्यान दिया जाता। कई बार परियोजना मूल्यांकन से सम्बंधित जानकारी भी अपूर्ण होती है।
- भूमि अधिग्रहण की समस्या- भूमि अधिग्रहण परियोजना प्रबंधन की एक महत्वपूर्ण समस्याओं में से एक है। सही मायने में देखा जाए तो इसमें सबसे बड़ी समस्या पुनर्वास की है। इस संदर्भ में गरीब किसानों से जो सौदा मुआवजों के रूप में किया जाता है वह संतोषजनक नहीं होते जिसके चलते विरोध शुरू हो जाते हैं और परियोजनाँ लम्बे समय तक अटक तक जाती है। उदाहरण के लिए गोरखपुर में 1960 में भारतीय उर्वरक निगम की स्थापना के लिए स्थान का चयन किया गया लेकिन भूमि 1963-64 के दौरान ही अधिग्रहीत की जा सकी।
- तकनीकी जानकारी की समस्या- भारत में लोक उद्यमों के समक्ष महत्वपूर्ण समस्या तकनीकी की है। परियोजना के आयोजन तथा प्रमाणीकरण (परिवीक्षा) में सहायता करने वाली पी0ई0आर0टी तथा सी0पी0एम0 जैसी आधुनिक तकनीकें या तो तैयार ही नहीं की जाती अथवा अपनाई नही जाती। इसके अतिरिक्त आज भी हम विदेशी तकनीकों की सहायता लेते हैं और यहाँ तक कि भारत में अधिकांश उद्यम तो विदेशी सहयोग से ही स्थापित किए गए है। साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखना जरूरी है कि प्रौद्योगिकी का चयन न केवल अद्युनिकता को ही ध्यान में रखकर किया जाए बल्कि इसका भी ध्यान रखना चाहिए की वह भारतीय परिस्थिति के लिए उपयुक्त हों।
- संगठनात्मक समस्याएँ- किसी भी संगठन या उद्यम की सफलता के लिए उसकी संस्था के स्वरूप का बड़ा महत्व होता है। 1948 के औद्योगिक नीति सम्बंधी प्रस्ताव मे इस पक्ष पर पर्याप्त चर्चा हुई थी। प्रस्ताव में कहा गया कि राज्य क्षेत्र का प्रबंध नियमपूर्वक सार्वजनिक निगमों के माध्यम से केन्द्रीय सरकार के वैधानिक नियंत्रण में होगा। इससे संबंधित कुछ महत्वपूर्ण समस्याएँ निम्नलिखित है-
  - सार्वजनिक क्षेत्र के विभिन्न कार्यों के बीच और दूसरी ओर शासन के बीच प्रभावी और उचित सम्बद्धता का अभाव।
  - अधिकांश सार्वजनिक उद्यमों को उपयुक्त अधिकार नहीं दिए गए।
  - सही समय पर निर्णय लेने का पर्याप्त अधिकार नहीं है।
  - राजनीतिज्ञों के साथ-साथ संबंधित विभाग प्रशासकों द्वारा बार-बार हस्तक्षेप करना।
  - मंत्री स्तरीय नियंत्रक तथा संसदीय उत्तरदायित्व दोनों ही अप्रभावी रहे है।

➢ प्रबन्धकीय स्वायत्तता सीमित है तथा उत्तरदायित्व सुनिश्चित नहीं है। इसके अतिरिक्त संगठनात्मक ढाँचे से सम्बद्ध अन्य समस्या निदेशक मंडल के संघटन की है।

सार्वजनिक उद्यमों के निदेशक मण्डल के चयन के सम्बंध में निम्नाकिंत दोष उद्यमों की निषफलता को बढ़ाते हैं जैसे-

(क) निदेशकों की नियुक्ति उद्यमशीलता के आधार पर नहीं की जाती।

(ख) निदेशक मण्डल के अन्य सदस्यों यहाँ तक कि अध्यक्षों के पद अनिश्चित समय तक रिक्त रखे जाते है।

(ग) अधिकांश सार्वजनिक उद्यमों में मिश्रित प्रकार का मण्डल है जिसमें कुछ पूर्ण कालिक सदस्य है तथा कुछ अंशकालिक सदस्य। एक अध्ययन के अनुसार अंशकालिक सदस्य सार्वजनिक उद्यमों के कार्यों में पर्याप्त अभिरूचि नहीं लेते।

(घ) अध्ययनवेत्ताओं ने सार्वजनिक उद्यमों और सम्बन्धित सरकारी विभागों में समन्वय के अभाव को भी एक कारण माना है जिससे सार्वजनिक उद्यमों में लालफीताशाही और अक्षमता को प्रोत्साहन मिलता है। जब तक निदेशक मण्डल को निर्णय लेने की पर्याप्त शक्ति नहीं दी जाती तब तक केवल ढाँचे में परिर्वतन से वांछित सुधार नहीं लाया जा सकता।

4. **उत्पादन संबंधी समस्याएँ-** इसका तात्पर्य है कम समय और कम लागत में अधिक उत्पादन करना। ऐसा करते समय वस्तु की गुणवत्ता और उत्तमता का ध्यान रखना जरूरी है। इससे सम्बन्धित समस्याएँ हैं-
   - ऊर्जा की कमी।
   - पुरानी अशक्त उत्पादन संस्थाएँ।
   - प्रबंध की समस्या।
   - उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपभोग नहीं।
   - हल्की किस्म का कच्चा माल, शोध और विकास क्रियाओं का असन्तोषजनक स्तर।
   - रख-रखाव प्रबंधन पर अपर्याप्त ध्यान।
5. **वित्तीय समस्याएँ-** लोक उद्यमों की सबसे प्रमुख समस्या वित्त से सम्बन्धित है। इन उद्यमों की वित्तीय स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। अधिक निवेश के बावजुद इन संस्थाओं के असन्तोषजनक कार्यों ने राष्ट्रीय परियोजना प्रक्रिया को कमजोर किया है और कर-बोझ को बढ़ाया है। वित्तीय प्रबन्ध तथा नियंत्रण के प्रभावकारी यंत्र के निर्माण के लिए एक स्वस्थ बजट पद्धति अत्यन्त आवश्यक है। वित्त से सम्बन्धित कुछ प्रमुख समस्याएँ हैं-
   - वित्तीय जागरूकता की समस्या।
   - अधिक पूँजी निवेश समस्या।
   - असन्तोषप्रद कार्य।
   - वित्तीय अनुशासन की कमी।
   - कम लाभ।
   - ऋण।
   - कार्यकारी पूँजी प्रबन्ध में लापरवाही।

- दोषपूर्ण मूल्य निर्धारण नीति।
- सामाजिक प्रमुखता का भारी बोझ आदि।
- अधिकांश उद्यमों के द्वारा अभी भी पारम्परिक बजट पद्धति का अपनाया जाना।
- आंतरिक लेखा-परीक्षा पद्धति संबंधी समस्या आदि।

6. **कार्मिक संबंधी समस्याएँ-** सार्वजनिक उद्यमों के प्रत्येक दिन के काम काज में अक्सर राजनीतिक हस्तक्षेप पाया जाता है। यह भली प्रकार स्थापित हो चुका है कि किसी भी उद्यम की सफलता मुख्यतः सार्वजनिक उद्यमों में लगे हुये कार्मिकों की योग्यता, प्रशिक्षण, अनुभव तथा मनोबल पर निर्भर करती है। लेकिन दुर्भाग्य से कार्मिक प्रशासन हमारे सार्वजनिक उद्यम के सबसे कमजोर पहलुओं में से एक है। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं-
   - नौकरशाही का नियंत्रण।
   - मानवशक्ति का नियोजित न होना।
   - कार्मिक-प्रबन्ध के बीच अच्छे संबंध का न होना।
   - भर्ती की दोषपूर्ण नीति।
   - निजी क्षेत्रों की तुलना में कम वेतन।
   - अनावश्यक सेवा शर्तें।
   - गुणवत्ता की उपेक्षा।
   - मनोबल की कमी।
   - अन्य सुविधाओं की कमी।
   - प्रशिक्षण का अभाव।
   - नियुक्ति एवं अन्य कार्यों में भाई-भतीजावाद।
   - आवश्यकता से अधिक कर्मचारी होना।
   - प्रतिनियुक्तियों की समस्या।
   - मजदूर संघ की समस्या।
7. **विपणन संबंधी समस्याएँ-** लोक-उद्यम का यह सबसे कम विकसित क्षेत्र है। सार्वजनिक उद्यमों की दक्षता और सफलता इस बात पर निर्भर करती हैं कि माल या सेवाओं का प्रभावी ढंग से निपटान कैसे किया जाता है। इसकी प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं-
   - लोक-उद्यमों के पास योग्य विक्रेताओं की कमी।
   - निजी क्षेत्र के उद्यमों के साथ प्रतिस्पर्धा का अभाव।
   - गुणवत्ता नियंत्रण की खराब प्रणाली।
   - माँग बाधाएँ।
   - विकेन्द्रीकृत वितरण प्रणाली।
   - निर्यात संवर्धन की समस्याएँ।

- सरकार तथा लेखा-परीक्षकों के कठोर नियंत्रण के कारण विक्रय कमीशन के रूप में विक्रय प्रोत्साहन का अभाव
- अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में स्पर्था का अभाव आदि।

8. **नियन्त्रण एवं उत्तरदायित्व की समस्या-** सार्वजनिक क्षेत्र में जनता का धन लगा होता है इसलिए करदाताओं को यह जानने का पूरा अधिकार है कि उसका पैसा किस तरह खर्च किया गया, क्योंकि करदाता के प्रतिनिधि संसद में है इसलिए इनके नियन्त्रण और उत्तरदायित्व को संसद को सौंप दिया गया है। इससे संबंधित कुछ प्रमुख समस्याएँ हैं-
   - स्वायत्तता की समस्या।
   - संसदीय नियन्त्रण की समस्या।
   - लेखा परीक्षा नियन्त्रण की रूढ़िवादी प्रणाली।
   - उत्तरदायित्व की समस्या।
   - परस्पर विरोधी उद्देश्य संबंधी समस्या।
9. **सामग्री प्रबंध की समस्या-** किसी भी उद्यम के लाभपूर्ण संचालन के लिए सामग्री का कुशलता तथा मितव्यता से प्रयोग अत्यावश्यक है। लागत नियंत्रण करने के प्रबन्धकीय प्रयत्न का यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण हिस्सा है। इससे सम्बन्धित कुछ समस्याएँ हैं-
   - अधिक सामग्री का भण्डारण।
   - वस्तु सूची तैयार करने में वैज्ञानिक विधि का अभाव।
   - परिसम्पत्तियों का अन्यायोचित ऊँचा मूल्य।
   - परिसम्पत्ति नियंत्रण की वैज्ञानिक विधियों का अभाव।
   - सामग्री प्राप्त करने में कठिनाई और विलम्ब।
   - कठोर नियम एवं लोचशीलता का अभाव।
   - सरकारी हस्तक्षेप।
   - वाणिज्य और व्यापार जैसी प्रवृत्ति का अभाव।
   - सामग्री के वितरण में विलम्ब आदि।
   - क्रय की प्रक्रिया भी बहुत लम्बी है तथा इसके अंर्तगत वित्तीय शाखा को बड़ी संख्या में निर्देश भी शामिल है।
10. **बीमार इकाईयों की समस्या-** निजी क्षेत्र के रूग्ण या बीमार उद्यमों के रोजगार की रक्षा के लिए सरकार ने उन्हें अपने कामकाज में सुधार लाने के लिए पदभार संभाल लिया है। इससे सम्बंधित कुछ समस्याएँ हैं-
   - आवश्यकता से अधिक कर्मचारी का होना।
   - खराब बाजार छवि।
   - निष्क्रिय प्रबंधन।
   - पुराने और घिसे हुए उपकरण।

- अन्य समस्याएँ जैसे- अप्रचलित प्रौद्योगिकी, धन की कमी, उच्च ऋणात्मकता और खराब तरलता की स्थिति ऐसी बीमार इकाइयों से जुड़ी समस्या है।

13.2.2 सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की समस्याओं को दूर करने के सुधारात्मक उपाय

13.2.1 में वर्णित नकारात्मक पक्ष का अभिप्राय यह नहीं है कि सार्वजनिक क्षेत्र की भारतीय विकास में कोई देन नहीं है। निष्पक्ष रूप से देखने पर ज्ञात होता है कि सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका भारतीय विकास के लिए उल्लेखनीय रही है। भारतीय विकास को आत्मनिर्भर बनाने का श्रेय इसी क्षेत्र को जाता है। आज भी इस क्षेत्र में राष्ट्र की विशाल पूँजी और क्षमता- भौतिक, वित्तीय, संस्थात्मक और मानवीय श्रोतों संबंधी विद्यमान है। अतः इनकी समस्याओं का सुधार करना अनिवार्य है जिससे लोक-उद्यम राष्ट्र के निर्माण में अपनी अपेक्षित भूमिका निभा सकें।

लोक उद्यम क्षेत्र की उपर्युक्त समस्याओं के समाधान के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं-

1. लोक-उद्यमों के संचालक मण्डल में व्यावसायिक कुशलता प्राप्त व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाना चाहिए न कि भारतीय प्रशासनकि सेवा के अधिकारियों को।
2. कार्यक्षमता में सुधार करने की आवश्यकता है।
3. क्रय-विक्रय की नीतियों को आकृष्ट तथा विकसित करने के लिए विशेष प्रयास की जाए।
4. सार्वजनिक उद्यमों के संरचनात्मक सुधार की आवश्यकता पर जोर दी जाए जिसका आधार- आधुनिकीकरण, कार्यक्षमता में वृद्धि तथा निजीकरण प्रोत्साहन ताकि, शेष सार्वजनिक क्षेत्र को कुशल और प्रतियोगी बानाया जा सकें।
5. सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में 'निष्पादन बजट' तथा 'शून्य आधार बजट' को आरम्भ करने की आवश्यकता है।
6. आंतरिक लेखा-परीक्षा पद्धति को मजबूत बनाने की आवश्यकता है जिससे कि यह सुस्थितता, पर्याप्तता, निर्दोष वित्तीय सिद्धान्तों के अनुप्रयोग तथा संचालनात्मक नियंत्रण के पुनरीक्षण में समर्थ हो।
7. उत्पादकता वृद्धि के प्रयत्न किए जाने चाहिए।
8. अधिकारियों को प्रशिक्षण प्रदान करना चाहिए।
9. प्रबंधकीय व्यवस्था में सुधार तथा प्रबंध संस्कृति को बढ़ावा देना चाहिए।
10. उदारवादी नीतियों को प्राथमिकता देना।
11. प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन देना।
12. सार्वजनिक उद्यमों का सही समय पर निर्णय लेने के पर्याप्त अधिकार मिलने चाहिए।
13. राजनीतिक हस्तक्षेप कम से कम होने चाहिए।
14. विदेशी निर्भरता कम करनी चाहिए।
15. भारत में तकनीकी क्षेत्रों की खोज, वैज्ञानिक पद्धति व अनुसंधान को प्रोत्साहित करना चाहिए।
16. संसद द्वारा नियन्त्रण नीति निर्माण में रखा जा सकता है लेकिन उपनीतियाँ बनाने में उपक्रम को स्वतन्त्र होना चाहिए।
17. लक्ष्यों की स्पष्टता होनी चाहिए।
18. प्रबन्धक वर्ग तथा श्रमिकों के मध्य सामंजस्य को बढ़ाया जाना चाहिए।
19. वस्तु सूची वैज्ञानिक विधि से तैयार की जानी चाहिए।
20. बेहतर भण्डारण सुविधाएँ होनी चाहिए ताकि सामग्री को अच्छे आकार तथा गुण में रखने में सहायता मिल सके।

21. मूल्य निर्धारण नीति में सरकार द्वारा जारी सम्पूर्ण मार्गदर्शक सिद्धान्तों, प्रत्येक उद्यम की व्यक्तिगत परिस्थितियों तथा राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए निर्धारित किए जाने चाहिए।

इसके अतिरिक्त प्रशासनिक सुधार आयोग तथा संबंधित अध्ययनों ने समय-समय पर सरकार का ध्यान इन विभिन्न प्रशासनिक समस्याओं की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया है तथा अपने-अपने सुझाव प्रस्तुत किए है जिस पर सरकार गंभीरता से विचार भी कर रही है।

सार्वजनिक क्षेत्र के विकास तथा उनकी समस्याओं के समाधान हेतु 9 अप्रेल, 2018 को विज्ञान भवन नई दिल्ली में आयोजित केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम सम्मेलन- विजन 2022 को सम्बोधित करते हुए प्रधान मंत्री श्री नरेन्द दामोदर दास मोदी ने स्पष्ट रूप से कहा कि सरकार CPSEs से जुड़ी समस्त समस्याओं को दूर करने के लिए लगातार काम कर रही है जिसके तहत सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़े संस्थानों को (Operatl onl Freedom) संचालन स्वतंत्रता दे दी है ताकि वो अपने-अपने क्षेत्रों में बेहतर प्रदर्शन कर देश के सामाजिक-आर्थिक विकास को तीव्र गति प्रदान कर सकें।

अभ्यास के प्रश्न-

1. सार्वजनिक क्षेत्र में वित्तीय संबंधी समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
2. सार्वजनिक क्षेत्र में बीमार इकाईयों की प्रमुख समस्याओं को इंगित कीजिए।
3. सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादन संबंधी समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
4. सार्वजनिक क्षेत्र से संबंधित समस्याओं के सामाधान हेतु कम से कम चार सुझाव प्रस्तुत करें।

13.3 सारांश

भारत में सार्वजनिक उद्यम आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं यद्यपि निजी क्षेत्र भी विद्यमान है और सरकार इसे प्रोत्साहित भी कर रही है। इसलिए यह आवश्यक है कि सार्वजनि उद्यमों की प्रशासनकि कमियाँ और दुर्बलताओं को शीघ्रतिशीघ्र दूर किया जाए। सार्वजनिक उद्यमों के निष्पादन में सुधार के एक प्रयास में विभिन्न सरकारी तथा गैर-सरकारी अध्ययन रिपोर्टों ने सार्वजनिक उद्यमों के कुशल कार्य संचालन हेतु उपने सुझाव प्रस्तुत किए हैं। इसमें मुख्यतः इस ओर इशारा किया गया है कि किसी सार्वजनिक क्षेत्र की इकाई का निष्पादन तथा सफलता अंततः संगठन की प्रशासनिक प्रबंधकीय सामर्थ्य पर निर्भर करती है। प्रशासनिक मंत्रालयों और सार्वजनिक उद्यमों के मध्य समझबूझ स्मृतिपत्र व्यवस्था (एम0ओ0यू0) के प्रभावी होने के लिए सुधार आवश्यक है। कार्यक्षमता, सक्रिय नेतृत्व, कार्य सम्पादन क्षमता एवं नवचिन्तन प्रोन्नत करने के लिए विशिष्ट उद्यम स्तरों पर प्रबंध व्यवहार में शीघ्र परिर्वतन की आवश्यकता है। इनकी जवाबदेही सुनिश्चित होनी चाहिए। नीति निर्माताओं को चाहिए कि सरकार में एक नवीन संस्थात्मक क्षमता निर्मित करें जो पर्यावरण परिर्वतन एवं बाजार शक्तियों के प्रति संवेदनशील हो। इन सब के अतिरिक्त वित्त, कार्मिक प्रशासन तथा उत्पादन एवं विपणंन से संबंधित कुछ ऐसे महत्वपूर्ण प्रशासनकि समस्याएँ है जिनका निराकरण सरकार को अतिशीघ्र करना चाहिए। जब तक सार्वजनिक क्षेत्र के प्रशासनिक ढ़ाँचे में सुझाए गए सुधरात्मक उपायों को सही तरीके से नहीं अपनाया जाता तब तक घोषित उद्देशों को पूरा करने में सफलता नहीं मिल सकती है।

13.4 शब्दावली

निपटान- पुराने माल का विक्रय, संवर्धन- वृद्धि करना, वस्तु सूची- इससे अभिप्राय संगठन की परिसम्पत्तियों के उस भाग से है जिसमें उत्पाद के निर्माण में प्रयुक्त कच्चा माल, निर्माण की प्रक्रिया में प्रयुक्त वस्तुएँ तथा उपभोक्ता को वितरण के लिए तैयार परिष्कृत वस्तुएँ आती है।

निष्पादन बजटिंग- निष्पादन बजट का अभिप्राय उस प्रविधि से है जो सरकारी कार्यवाही को कार्यों, कार्यक्रमों, क्रियाकलापों के रूप में प्रस्तुत करती है। कार्य सम्पादन के इस अर्थपूर्ण वर्गीकरण से सरकारी क्रियाकलापों को बजट में वित्तीय तथा भौतिक रूप में अंकित किया जाता है इससे निवेश तथा उत्पादन में समुचित सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है तथा प्रशासन की उपलब्धियों को लागत के सम्बंध में आंका जा सकता है। शून्य आधार बजट- इसमें पिछले वर्ष के बजट को आधार नहीं माना जाता। इसके अनुसार सभी व्ययों, वर्तमान तथा भविष्य के लिए अनुमानित पर विचार- विमर्श किया जाता है। वर्तमान व्यय के औचित्य पर भी विचार-विमर्श करने का अभिप्राय है कि आगामी वर्ष के बजट के लिए कोई आधार नहीं है। इसलिए इसे शून्य आधार बजट कहा जाता है। सामग्री प्रबंध-इसके अंर्तगत सामग्री संचलन, उत्पादन, नियत्रंण, वस्तु सूची नियंत्रण, भण्डारण, सामग्री व्यवस्था तथा क्रय आदि से संबद्ध क्रियाएँ आती है।

आंतरिक लेखा परीक्षा- यह किसी भी संगठन का ऐसा भाग है जिसके अंर्तगत यह सुनिश्चित करने के लिए लेखों की परीक्षा की जाती है कि वे ठीक प्रकार से तैयार किए जाते, किया गया व्यय निर्धारित सीमाओं के अन्दर हैं तथा वित्तीय नियमों और विनियमों का पालन किया जाता है। आंतरिक लेखा परीक्षा का कार्य-क्षेत्र संगठन के प्रबंध वर्ग द्वारा निर्धारित किया जाता है।

सी0पी0एम0- यह एक योजना तकनीक है जो आरेख द्वारा किसी क्रिया अथवा परियोजना से संबंद्ध कार्य निष्पादन अथवा पूर्ण किए जाने के क्रम को इंगित करती हैं। यह परियोजना को उसकी अंगभूत घटनाओं के द्वारा स्पस्ष्ट करती है। आरेख के रूप में क्रियाओं अथवा घटनाओं को क्रम देकर तथा उसकी परस्पर निर्भरता प्रदर्शन द्वारा यह तकनीक व्यक्ति को क्रांतिक अथवा महत्वपूर्ण घटनाओं अथवा क्रियाओं के पहचानने में समर्थ बनाती है जिनमें विलम्ब से परियोजनाओं की सम्पूर्ण समाप्ति में विलम्ब हो सकता है। यह तकनीक इंजीनियरी, निर्माण अथवा संबद्ध परियोजनाओं की योजना, प्राक्लन, व्यवस्थापन तथा नियंत्रण में प्रयोग की जाती है।

13.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. इसका उत्तर 26.2.1 में निहित है। **2.** इसका उत्तर 26.2.1 में निहित है। **3.** इसका उत्तर 26.2.1 में निहित है। **4.** इसका उत्तर 26.2.2 में निहित है।

13.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय प्रशासन, अमरेश्वर अवस्थी एवं आनन्द प्रकाश अवस्थी।
2. लोक प्रशासनः नये क्षितिज, इन्द्रजीत कौर।
3. भारतीय प्रशासन, श्रीराम माहेश्वरी।
4. Adrninistration of Public Enterprises in India, Jagdish Prakash, Nageshwar Rao, Mata Badal Shukla
5. वित्त प्रशासन, पी0एन0 गौतम
6. विकास प्रशासन, (ई0पी0ए0-3, इकाई- 29, इग्नू)

13.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वित्त प्रशासन, पी0एन0 गौतम।
2. भारतीय प्रशासन, अमरेश्वर अवस्थी एवं आनन्द प्रकाश अवस्थी
3. विकास प्रशासन, (ई0पी0ए0- 3, इकाई- 29 इग्नू)

13.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख प्रशासनकि समस्याओं का विस्तृत विवरण दें।
2. सार्वजनिक क्षेत्र की प्रशासनिक समस्याओं को दूर करने के सुधारात्मक उपाय या सुझाव प्रस्तुत करें।